[1995] 1 उम० नि० प० 273

आर० सी० पौड्याल

बनाम

भारत संघ और अन्य,

सोमनाथ पौड्याल

बनाम

भारत संघ और अन्य,

नंदू थापा

बनाम

भारत संघ और अन्य

और

रूप राज राय और अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

10 फरवरी, 1993

मुख्य न्यायमूर्ति एल० एम० शर्मा, न्यायमूर्ति एम० एन० वेंकटचलैया, न्यायमूर्ति जे० एस० वर्मा, न्यायमूर्ति के० जयचन्द्र रेड्डी और न्यायमूर्ति एस० सी० अग्रवाल

संविधान, 1950, अनुच्छेद 371-च (च), 170(2), 332(3), 327, 329, 368 और 14—सहपठित लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950, धारा 7(1-क)(क) और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 5-क—लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 7(1-क) (क) के अधीन सिक्किम राज्य की विधान सभा में भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए 12 स्थानों का आरक्षण और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 5-क के अधीन ऐसे स्थान से निर्वाचन लड़ने वाले अभ्यर्थी के लिए अर्हता का विहित किया जाना अनुच्छेद 371-च(च) द्वारा प्रदत्त शक्ति के अंतर्गत है और उससे संविधान के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन नहीं होता—वह ऐतिहासिक विचारणाओं के आधार पर न्यायोचित है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 371-च(च) और 368—इन उपबंधों से संविधान के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन नहीं होता है—ये समर्थकारी उपबंध हैं, जिनमें अन्य वर्गों का अपवर्जन करते हुए, एक वर्ग को आरक्षण का उपबंध किया गया है—उनके द्वारा अनुच्छेद 332 से विचलन भी आशयित है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 170(2) राज्य में प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र की जनसंख्या और आबंटित स्थानों की संख्या के

बीच अनुपात में एकरूपता—एक-व्यक्ति—एक मत—प्रतिनिधित्व का सिद्धांत—ऋजु और प्रभावी प्रतिनिधित्व का नियम—गणितीय आनुपातिकता का पालन अनुध्यात नहीं।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 329, 32 और 136—निर्वाचन—निर्वाचन विधि और प्रक्रिया—न्यायिक सक्रियता की सीमा का न्यायिक पुनर्विलोकन अनुज्ञेय।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 371-च(च), 15(1), 325—सिक्किम राज्य की विधान सभा में संघ के लिए एक स्थान का आरक्षण—संघ द्वारा निभाई गई सामाजिक और राजनीतिक भूमिका की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखते हुए, उसे शुद्धतः धार्मिक संस्था नहीं माना जा सकता है और इसलिए एक स्थान का उसके लिए आरक्षण, जो केवल धर्म के आधार पर नहीं है और इन परिस्थितियों में प्रत्येक निर्वाचक मंडल का सर्जन भी विधिमान्य है।

संविधान, 1950, उद्देशिका — "पंथनिरपेक्ष" — पंथनिरपेक्षता (सर्वधर्म समभाव) संविधान का आधारभूत लक्षण है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 15(1)—यह उपबन्ध राजनीतिक क्षेत्र (निर्वाचन विषय) में भी धर्म आदि के आधार पर विभेद के विरुद्ध संरक्षण को भी लागू होता है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 32, 2 और 371-च(च) सहपठित लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950, धारा 7(1-क) (क) और (ग) और 25-क तथा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951, धारा 5-क—राजनीतिक प्रश्नों के अंतर्वलित होने के आधार पर रिट याचिका के चलने योग्य होने का प्रश्नगत किया जाना—प्रभुतासंपन्न शक्ति के प्रयोग में होने के कारण, नए राज्य-क्षेत्र (सिक्किम) का अर्जन अ-न्याय्य है—किंतु पूर्ण राज्य के रूप में उसके भारत संघ में सम्मिलित किए जाने की पश्चात्वर्ती प्रक्रिया संविधान के उपबंधों के अनुसार होनी है और वह न्याय्य है—याचिका के चलने योग्य होने की बाबत इस आधार पर उठाया गया प्रारंभिक आक्षेप कि उसमें राजनीतिक प्रश्न अंतर्वलित है, जिनका न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता है—आक्षेप स्वीकार्य नहीं और रिट याचिका चलने योग्य है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 2—संघ में नए राज्य का प्रवेश सम्मिलित किया जाना—संसद् की ऐसे निबंधन और शर्तें अधिकथित करने की शक्ति, जिन्हें वह ठीक समझे—प्रकृति और परिधि—निबंधन और शर्तें संविधान के आधारभूत लक्षणों के ढांचे के अंतर्गत होनी चाहिएं और वे न्याय्य हैं।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 368 और 371-च (च)—अनुच्छेद 371-च का अध्यारोही खंड (36वें संशोधन द्वारा अंतःस्थापित)—प्रभाव—उसके द्वारा संसद् को संविधान के आधारभूत लक्षणों से असंगत विधि बनाने के लिए सशक्त नहीं किया गया है—अतः वह न्याय्य है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 371-च (च) — परिधि — सिक्किम का भारत संघ में अधिमिलन—नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए स्थानों के आरक्षण का उपबंध नहीं किया जाना—यह नहीं कहा जा सकता है कि संसद् अनुच्छेद 371-च के खंड(च) को प्रभावी रूप देने में असफल रही है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 371-च (च), 332(3) और 14—सीमांत राज्य (सिक्किम) का भारत संघ में अधिमिलन—सिक्किम विधान सभा में भूटिया-लेप्चा लोगों के लिए स्थानों का आरक्षण—अनुच्छेद 371-च(च) द्वारा अनुच्छेद 332(2) से विचलन शक्य (संभव) बनाया गया है—विशेष स्थिति में और अनुज्ञेय छूट के अंतर्गत, ये उपबंध संवैधानिक हैं।

इन मामलों में आक्षेपित आरक्षणों से संबंधित सुसंगत उपबंध वे उपबंध हैं, जो संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा संविधान में वर्ष 1975 में अंतःस्थापित अनुच्छेद 371-च(च) के आधार पर तात्पर्यतः किए गए लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 (1980 का अधिनियम सं० 8) और संसदीय तथा विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र परिसीमन आदेश, 1976 में किए गए पारिणामिक संशोधनों द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 और 1951 में सम्मिलित किए गए हैं। रिट याची ने यह दलील दी है कि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के आक्षेपित उपबंध संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य हैं और उन्हें अनुच्छेद 371-च(च) द्वारा व्यावृत्ति (संरक्षण) प्रदान नहीं की जा सकती। आनुकल्पिक रूप से यह तर्क दिया गया है कि यदि अनुच्छेद 371-च(च) के उपबंधों का वैसा निर्वचन किया जाता है, जैसा कि प्रत्यर्थियों की ओर से सुझाया गया है, तो उससे संविधान की आधारभूत विशेषताओं का उल्लंघन होगा और इसलिए स्वयं अविधिमान्य हो जाएगा बहस के दौरान एक अन्य आधार पर भी बल दिया गया और वह यह था कि प्रत्यर्थियों द्वारा किए गए अधिनियम और संविधान के निर्वचन को स्वीकार कर लेने पर भी परिस्थितियों द्वारा विधान सभा में आक्षेपित आरक्षण न्यायोचित सिद्ध नहीं होते हैं और इसलिए उन्हें विखंडित किया जाना उचित होगा। प्रत्यर्थियों का, जो रिट याची के आधार को चुनौती दे रहे हैं, यह पक्षकथन है कि सांविधानिक संशोधन, जिसके द्वारा अनुच्छेद 371-च(च) लाया गया है और लोक प्रतिनिधित्व के सुसंगत संशोधित उपबंध वैध और विधिमान्य हैं, तथा उन सभी सुसंगत परिस्थितियों को देखते हुए, जिनमें सिक्किम भारत संघ का एक भाग बना, याची की रिट याचिका खारिज किए जाने योग्य है। मामले में उद्भूत होने वाले मुद्दों और पक्षकारों की ओर से दिए गए तर्कों का विवेचन करने के लिए, भारत में सिक्किम के विलय से पूर्व और उसके पश्चात् की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और सांविधानिक स्थिति पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक होगा। ब्रिटिशकाल में सिक्किम, ब्रिटिश सर्वोपरिता के अधीन, चोग्याल नामक आनुवंशिक राजा (शासक) के अधीन राज्य (शाही रियासत) था। चोग्याल, जिन्हें महाराजा भी कहा जाता था, नरेश-मंडल के सदस्य थे, जो 15 तोपों की सलामी (लेने) के हकदार थे। (सिक्किम को) भारत शासन अधिनियम, 1935 के उपबंध लागू होते थे और इस प्रकार सिक्किम का स्वयं अपना संप्रभुता का कोई लक्षण नहीं था। वर्ष 1947 में भारत की स्वतंत्रता के अवसर पर, भारत में विलय हेतु सिक्किम में सार्वजनिक मांग उठी थी, जिसका शासकों द्वारा विरोध किया गया। प्रत्यर्थी सं० 1 भारत

1993(2) eILR(PAT) SC 143

संघ के प्रतिशपथपत्र के पैरा 3(v) में किया गया कथन, जो गृह मंत्रालय के उपसचिव द्वारा सशपथ किया गया है, इस संबंध में काफी प्रकाश डालता है। उसमें, अन्य बातों के साथ-साथ, यह कहा गया है कि सिक्किम के लोगों द्वारा सशक्त और स्पष्ट रूप से यह भावना व्यक्त की गई थी सिक्किम के भारत के साथ संबंध और निकट के हों और उसमें वास्तविक जनतांत्रिक संस्थाओं का विकास किया जाए, जिसके कारण सिक्किम के भारत में विलय की मांग करते हुए, बड़े पैमाने पर आंदोलन हुए। तथापि, भारत सरकार सिक्किम की प्रास्थिति (हैसियत) में तुरंत परिवर्तन करने के विचार के पक्ष में नहीं थी और इसलिए सिक्किम और भारत सरकार के बीच एक संधि मात्र की गई, जिसके अधीन पश्चात्-कथित ने तारीख 3 दिसंबर, 1950 के दस्तावेज में विवरणित निबंधनों पर सिक्किम की प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों और संचार की बाबत उत्तरदायित्व संभाला। तत्पश्चात् चोग्याल ने निर्वाचनों का उपबंध करके लोगों द्वारा सत्ता में भागीदारी किए जाने की दिशा में अनेक कदम उठाए। उक्त सार्वजनिक मांग ने हिंसक प्रदर्शनों का रूप धारण कर लिया, जिसके कारण विधि और व्यवस्था की स्थिति पूर्णतः बिगड़ गई, जिसने तत्कालीन चोग्याल को भारत सरकार से सिक्किम में विधि और व्यवस्था की स्थापना (कायम रखने) और सुशासन (अच्छे प्रशासन) का उत्तरदायित्व अपने हाथ में लेने के लिए विवश किया। अंततः तारीख 8 मई, 1973 को एक प्ररूपिक करार पर हस्ताक्षर किए गए, जिसके भारत सरकार, तत्कालीन चोग्याल और सिक्किम के लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनैतिक दलों के नेता पक्षकार थे। सिक्किम की जनसंख्या में मुख्यतः लेप्चा, भूटिया और नेपाली के रूप में ज्ञात तीन जातीय समूह हैं। भारत से भी लोग सिक्किम जाते रहे हैं और वहां बसते रहे हैं किंतु वर्ष 1973 से पूर्व उनकी संख्या कम थी। यद्यपि नेपालियों की जनसंख्या लेप्चा और भूटिया लोगों की तुलना में कहीं अधिक रही है, तथापि राजनीति (राज्य व्यवस्था) में उनका प्रभाव काफी कम था क्योंकि चोग्याल भूटिया थे और सदा अपनी पकड़ बनाए रखने के उद्देश्य से, उनकी शेष लोगों के विरुद्ध लेप्चा और भूटिया लोगों को एक (संगठित) रखने की बराबर नीति बनी रही। ब्रिटिश सर्वोपरिता के व्यपगन पर और उसके स्थान पर भारत के संरक्षित राज्य के प्रतिस्थापन पर, चोग्याल ने लोक भावना को शांत करने के प्रयास में एक उद्घोषणा जारी की, जिसके द्वारा, 6 स्थान भूटिया और लेप्चा लोगों को और 6 स्थान नेपाली लोगों को आबंटित करते हुए, जिन सब का निर्वाचन 4 प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित मतदाताओं द्वारा किया जाना था, 12 सदस्यों की राज्यपरिषद् की स्थापना का उपबंध किया गया। कुछ मास पश्चात् ही, तारीख 23 मार्च, 1953 को दूसरी उद्घोषणा जारी की गई, जिसमें 6 और सदस्यों के लिए स्थान जोड़े गए, जिनमें से एक महाराजा, अर्थात् चोग्याल द्वारा परिषद् के अध्यक्ष के रूप में नामनिर्देशित किया जाना था। इस प्रकार कुल संख्या 18 हो गई। तथापि महाराजा ने परिषद् द्वारा किए जाने वाले किसी भी विनिश्चय की बाबत अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करने और स्वयं अपने विनिश्चय द्वारा उसे प्रतिस्थापित करने का अपना अधिकार आरक्षित रखा। पुनः, एक अन्य उद्घोषणा द्वारा भी, जो वर्ष 1957 में जारी की गई, भूटिया-लेप्चा लोगों और नेपाली लोगों के लिए 6-6 स्थानों की बराबरी बनाई रखी गई। तारीख 16 मार्च, 1958 की अगली उद्घोषणा द्वारा, परिषद् में दो स्थान और जोड़े गए, एक भिक्षुओं द्वारा, जो लामा हैं, चलाए जाने वाले धार्मिक बौद्ध मठों के लिए आरक्षित "संघ स्थान" के रूप में वर्णित है और दूसरा 'साधारण स्थान' के रूप में घोषित किया गया है इस प्रकार, सर्वप्रथम वर्ष 1958 में चोग्याल ने, साधारण स्थान सर्जित करके, आप्रवासियों की उपस्थिति की अवेक्षा की, जो न तो भूटिया-लेप्चा थे और न नेपाली ही, बल्कि वे अधिकांशतः भारतीय थे। उन्होंने परिषद् में लामाओं को भी सम्मिलित किया, क्योंकि वह अपने लिए उनके समर्थन के बारे में आश्वस्त थे। उद्घोषणा से चोग्याल के निजी सचिव का टिप्पण (भी) संलग्न था, जिसके प्रति प्रत्यर्थियों ने आक्षेपित आरक्षणों के समर्थन में अपने तर्कों में निर्देश किया है। उक्त टिप्पण तीन उप-पैराओं में है, जो संघ स्थान, साधारण स्थान और भूटिया-लेप्चा तथा नेपाली लोगों के बीच समानता के प्रश्न के संबंध में है। प्रथम उप-पैरा (क) में यह उल्लेख किया गया है कि संघ की सिक्किम के सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका थी और उसने विगतकाल में परिषद् द्वारा किए गए विनिश्चयों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उप-पैरा (ख) में यह कहा गया है कि राजनीतिक दल परिषद् में कुल स्थानों के एक तिहाई भाग की मांग कर रहे हैं, जिसे उन व्यक्तियों को उपलब्ध कराया जाना है, जिन्होंने सिक्किम में अपना आवास स्थापित कर लिया है यद्यपि वे भूटिया-लेप्चा और नेपाली प्रवर्गों में से किसी प्रवर्ग में नहीं आते हैं, और महाराजा ने आंशिक स्वीकृति (रियायत) द्वारा एक स्थान सामान्य लोगों को दिया था। अंतिम उप-पैरा में महाराजा की यह इच्छा घोषित की गई है कि सिक्किम सरकार को भूटिया-लेप्चा और नेपाली दोनों ही, समूहों द्वारा समानता के स्तर पर चलाया जाना चाहिए और एक समुदाय दूसरे समुदाय पर अपना आधिपत्य नहीं जमाएगा और न एक दूसरे के अधिकारों का अतिक्रमण ही करेगा। तारीख 21 दिसंबर, 1966 की पश्चात्वर्ती उद्घोषणा द्वारा, सिक्किम परिषद् पुनः गठित की गई, जिसकी कुल सदस्य-संख्या 24 थी, किंतु जिसमें से 14 सदस्यों का, 7 स्थान भूटिया-लेप्चा लोगों को और 7 स्थान नेपाली लोगों को आरक्षित रखते हुए, प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचन किया जाना था; एक स्थान अनुसूचित जाति द्वारा, एक सौंग लोगों द्वारा और एक साधारण स्थान के रूप में भरा जाना था। संघ स्थान को बनाए रखा गया। जिसे संघों के निर्वाचन-मंडल द्वारा निर्वाचन से भरा जाना था और शेष 6 स्थानों पर पूर्ववत् चोग्याल द्वारा नामनिर्देशन किया जाना था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पश्चात् वर्ष 1969 में वैसी ही एक और उद्घोषणा जारी की गई, जो पक्षकारों द्वारा न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं की गई है। सिक्किम परिषद् की स्थापना के बावजूद, शासन करने की अंतिम शक्ति चोग्याल के हाथ में केंद्रित रही, जिन्होंने, परिषद् में 6 सदस्यों को नामनिर्देशित करने का अधिकार रखने के अतिरिक्त, किसी भी विषय में निषेधाधिकार का प्रयोग करने और स्वयं अंतिम विनिश्चय करने का प्राधिकार भी अपने लिए आरक्षित रखा। किंतु लोग इस व्यवस्था से संतुष्ट नहीं रह सके और व्यापक स्तर पर हिंसक प्रदर्शन हुए और विधि और व्यवस्था की स्थिति पूर्णतः बिगड़ गई, जिसके कारण चोग्याल स्थिति को नियंत्रण में करने के लिए भारत सरकार का आश्रय लेने के लिए विवश हो गए। तीनों पक्षकारों, अर्थात् चोग्याल, सिक्किम के लोगों, जिनका प्रतिनिधित्व विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं द्वारा किया गया, और भारत सरकार अंततः तारीख 8 मई, 1973 के त्रिपक्षीय करार में सम्मिलित निबंधनों पर सहमति व्यक्त करने में समर्थ हुए और चोग्याल के प्राधिकार को काफी कम कर दिया गया। करार की उद्देशिका में विनिर्दिष्ट रूप से यह उल्लेख किया

गया कि सिक्किम के लोगों ने, "निर्वाचन की ऐसी पद्धति को अंगीकृत करने का विनिश्चय किया था, जो वयस्क मताधिकार पर आधारित होगा और जो 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत के आधार पर सभी वर्गों के लोगों को साम्यापूर्ण प्रतिनिधित्व प्रदान करेगी।" यह भी कहा गया है कि इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए चोग्याल और जनता के प्रतिनिधियों ने भारत सरकार से आवश्यक कदम उठाने का अनुरोध किया था। प्रथम पैरा में, जो आधारभूत अधिकारों के संबंध में है, यह घोषित किया गया कि सिक्किम के लोगों को "एक व्यक्ति, एक मत" के सिद्धांत को प्रभावी बनाने के लिए, वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन का अधिकार प्राप्त होगा। प्रत्यर्थियों की ओर से अपने इस आधार के समर्थन में उपर्युक्त करार का सशक्त अवलंब लिया गया है कि भूटिया-लेप्चा लोग, जो राज्य की कुल जनसंख्या के एक-चौथाई भाग से भी कम हैं, आक्षेपित उपबंधों द्वारा यथा-अनुध्यात, परिषद में लगभग 40 प्रतिशत स्थानों के लिए हकदार हैं। अगली, उद्घोषणा, जो इस संबंध में सुसंगत है, तारीख 5 फरवरी, 1974 को जारी की गई और उसे सिक्किम नागरिक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1974 का नाम दिया गया। उसमें सिक्किम विधानसभा बनाए जाने का निदेश किया गया, जिसमें 32 निर्वाचित सदस्य होंगे—31 सदस्यों का 31 प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचन किया जाना था और एक निर्वाचन-क्षेत्र को संघों के निर्वाचक मंडल द्वारा एक सदस्य का निर्वाचन करना था। 32 स्थानों का विवरण धारा 3 में दिया गया है, जिसमें यह निदेश किया गया है कि 16 निर्वाचन-क्षेत्रों को, जिनमें एक संघ के लिए आरक्षित स्थान भी सम्मिलित था, भूटिया-लेप्चा लोगों को आरक्षित रखा जाना था और शेष 16 स्थानों को नेपाली लोगों के लिए आरक्षित रखा जाना था, जिनमें से एक स्थान सौंग लोगों के लिए और दूसरा अनुसूचित जाति के नेपालियों के लिए आरक्षित था। इसके परिणामस्वरूप, साधारण स्थान समाप्त हो गया। उसी वर्ष जुलाई मास में नवगठित सिक्किम विधानसभा द्वारा एक और अधिनियम पारित किया गया, जिसमें एक बार पुनः लोगों के "एक व्यक्ति, एक मत" के आधार पर विधानसभा के लिए निर्वाचन कराने के विनिश्चय पर बल दिया गया, अर्थात् ऐसा प्रत्येक व्यक्ति, जो विहित तारीख को सिक्किम का नागरिक था और विहित आयु से कम आयु का नहीं था तथा जो अधिनियम के अधीन अन्यथा निरर्हित नहीं था, किसी भावी निर्वाचन में मतदाता के रूप में रजिस्ट्रीकृत किए जाने के लिए हकदार था। विधानसभा में, जो 1974 वाले अधिनियम के अधीन स्थापित की गई, पहले परिषद को प्राप्त शक्तियों की तुलना में अधिक शक्तियां निहित थीं और चोग्याल तथा जनता के बीच प्रभावी शक्ति के लिए लड़ाई निर्णायक दौर में पहुंच गई। मुख्य दल सिक्किम कांग्रेस ने, जो लोगों का प्रतिनिधित्व करता था, करार के अनुसरण में आयोजित निर्वाचन में 32 स्थान प्राप्त किए। इस संबंध में यह बात महत्वपूर्ण है कि उसके चुनाव घोषणापत्र में यह कहा गया था— "हम भी उन्हीं जनतांत्रिक अधिकारों और संस्थाओं को प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं, जो भारत के लोगों को गत 25 वर्ष से प्राप्त हैं।" अंततः सिक्किम सरकार द्वारा एक विशेष जनमत संग्रह आयोजित किया गया और लोगों ने स्पष्ट रूप से यह अधिमत व्यक्त किया कि वे सिक्किम के भारत में सम्मिलित होने और भारत संघ का एक भाग होने के पक्ष में थे। इस घटना-क्रम (विनिश्चय) के अनुसरण में, संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा भारत के संविधान में संशोधन किया गया, जिसके द्वारा धारा 2-क अंतःस्थापित की गई, जिसके द्वारा सिक्किम को कतिपय निबंधनों और शर्तों पर भारत संघ से सहयुक्त किया गया। उक्त संशोधन फरवरी, 1975 को प्रवृत्त हुआ। सिक्किम विधानसभा ने तारीख 10 अप्रैल, 1975 को एक अन्य महत्वपूर्ण संकल्प पारित किया, जिसके द्वारा चोंग्याल का पद (संस्था) समाप्त कर दिया गया और यह घोषित किया गया कि अब से सिक्किम भारत का एक संघटक एकक होगा, जिसे जनतांत्रिक और पूर्णतः उत्तरदायी सरकार प्राप्त होगी। संकल्प में भारत सरकार से आवश्यक कार्यवाही करने का अनुरोध किया गया। तदनुसार, संविधान में संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा एक और संशोधन किया गया, जो मई, 1975 में प्रभावी हुआ। इस सांविधानिक संशोधन के परिणामस्वरूप सिक्किम का भारत संघ में पूर्ण विलय हो गया। संविधान के 35वें संशोधन द्वारा सिक्किम को दसवीं अनुसूची के रूप में जोड़ी गई अनुसूची में पृथक् रूप से उपवर्णित निबंधनों और शर्तों पर, अनुसूची 2-क के अंतःस्थापन द्वारा भारत संघ के साथ सहयुक्त मात्र किया गया था। अनुच्छेद 80 और 81 में भी कुछ संशोधन किए गए थे। संविधान के 36वें संशोधन द्वारा, शीर्षक "1. राज्य" के अधीन, संविधान की प्रथम अनुसूची में प्रविष्टि 22 के रूप में सिक्किम को जोड़ कर, सिक्किम का भारत संघ में पूर्ण विलय कर दिया गया। इसके अतिरिक्त, नए सिरे से जोड़े गए अनुच्छेद 371-च में कुछ विशेष उपबंध भी किए गये। प्रत्यर्थियों की ओर से अनुच्छेद 371-च के खंड (च) के उपबंधों का इस रूप में सशक्त अवलंब लिया गया है कि उनके द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियमों में आक्षेपित संशोधित उपबंधों को प्राधिकृत किया गया है। अनुच्छेद 2-क, 10वीं अनुसूची और संविधान के कुछ अन्य उपबंधों का लोप कर दिया गया है। वर्ष 1978 में भूटिया-लेप्चा लोगों को भारत के संविधान के अनुच्छेद 342 के खंड (1) के अधीन जारी किए गए राष्ट्रपतीय आदेश द्वारा सिक्किम राज्य के संबंध में अनुसूचित जनजातियों के रूप में घोषित किया गया, और इस प्रकार वे अनुच्छेद 332 के अनुसार राज्य विधानमंडल में स्थानों के आरक्षण की प्रसुविधाओं (फायदों) के लिए हकदार हो गए। 1976 वाले अधिनियम सं० 10 द्वारा और 1980 के अधिनियम सं० 8 द्वारा दो बार लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में राज्य विधानमंडल में पारिणामिक आरक्षण किए गए किंतु वे अनुच्छेद 332 के खंड (3) के अनुरूप नहीं थे। सदन में कुल 32 स्थानों में से, लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 7 की नव अंतःस्थापित उपधारा (1-क) के क्रमशः खंड (क) और (ग) द्वारा 12 स्थान भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किम के लोगों के लिए आरक्षित किए गए हैं और एक स्थान संघों के लिए। आगे संघ स्थान के बारे में, 1950 वाले अधिनियम की धारा 25-क में यह उपबंध किया गया है कि राज्य में एक संघ निर्वाचन-क्षेत्र होगा और केवल अप्रैल, 1974 में सिक्किम में आयोजित निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिए मान्यताप्राप्त मठों के संघ ही निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत किए जाने के लिए हकदार होंगे, और उक्त निर्वाचक-नामावली ऐसी रीति में तैयार और पुनरीक्षित की जाएगी, जिसके बारे में निर्वाचन आयोग द्वारा निदेश किया जाए। परिणामतः लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में धारा 5-क को अंतःस्थापित करके संशोधन किए गए। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र और स्थानों के आरक्षण की सीमा के बारे में, आरंभ में यह निदेश किया गया कि वह संविधान के 36वें संशोधन के अधीन विलय से तुरन्त पूर्व की स्थिति के

अनुसार होगी, और इस संबंध में संसदीय और विधान सभा निर्वाचन-क्षेत्रों का परिसीमन आदेश, 1976 में पश्चात्वर्ती संशोधन किए गए। धारा 7क की उपधारा (3) के संशोधित उपबंधों में (अरुणाचल प्रदेश पर चर्चा के अतिरिक्त) इस विषय की चर्चा की गई थी। रिट याची द्वारा इन्हीं विशेष उपबंधों को विभिन्न आधारों पर चुनौती दी गई है। इस मामले में उद्भूत होने वाले सांविधानिक महत्व के दो प्रश्न इस प्रकार हैं—(i) क्या किसी राज्य के भारत में पूर्ण विलय के पश्चात् धार्मिक संस्थाओं द्वारा निर्वाचित किए जाने के लिए, धार्मिक संस्थाओं के समूह के प्रतिनिधि के लिए, राज्य विधान-मंडल में कोई स्थान आरक्षित किया जा सकता है; और (ii) क्या किसी विशेष जनजाति की जनसंख्या के आधिक्य में, उस विशेष जनजाति के पक्ष में स्थान आरक्षित किए जा सकते हैं। याचिकाओं का निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित—(मु० न्या० शर्मा) यदि संविधान का इस प्रकार निर्वचन किया जाता है, जिससे बौद्ध मठों जैसी धार्मिक संस्थाओं के एक समूह के लिए विधानमंडल में स्थान, संशोधन द्वारा, अनुज्ञात किया जाता है, तो उससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि अन्य धर्मों की संस्थाओं के लिए भी ऐसा आरक्षण अनुज्ञेय होगा। देश में ईसाई मिशनरी संस्थाओं के लिए भी, आदिवासियों के उत्थान के कार्य के प्रति उनकी सेवाओं, शिक्षा के क्षेत्र में उनके योगदान और असुविधाग्रस्त लोगों को चिकित्सीय सहायता देने के आधार पर या हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों और अन्य धर्मों के लिए, जो असहाय लोगों के लिए महत्वपूर्ण राहत प्रदान करते हैं, ऐसे उपबंध के विरुद्ध कोई उचित कारण नहीं होगा और इस सबसे विधानमण्डलों का रूप ही, अंततः, परिवर्तित हो जाएगा। यह प्रभाव (परिणाम) कि सिक्किम में मठों के लिए इस समय केवल एक स्थान ही आरक्षित रखा गया है, वह क्षीण शंकु-रेखा है, जिसकी, समयानुक्रम में उस आधार को ही समाप्त करने की शक्यता है, जिस पर जनतांत्रिक गणराज्य की स्थापना की गई है। इस पृष्ठभूमि में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या इस सबको संविधान के आधारभूत लक्षणों से असंगत (के विरुद्ध) होने के कारण प्रतिषिद्ध किया गया है। न्यायालय को इस विवाद्यक का सकारात्मक उत्तर देने में कोई हिचकिचाहट नहीं है। (पैरा 27)

यदि सम्पूर्ण संविधान पर उक्त "इतिहास रचना" सहित, इस प्रयोजन के लिए विधि में सुसंगत अन्य सामग्री के साथ सामंजस्यपरक रूप में विचार किया जाता है, तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य है कि धर्म के आधार पर किसी एक समूह के पक्ष में निर्वाचन (मतदान) में कोई महत्व दिया जाना पूर्णतः प्रतिषिद्ध किया गया है और इसके अतिरिक्त, यह एक ऐसा आधारभूत लक्षण है, जो संशोधन के अध्यधीन नहीं है। अतः संविधान के अनुच्छेद 7(1)(क)(ग) के उपबंधों और अन्य सम्बद्ध संशोधनों को शक्तिबाह्य माना जाना चाहिए। (पैरा 31)

सुनवाई के दौरान यह दलील भी दी गई कि यदि संविधान द्वारा विधान-मण्डलों में नामनिर्देशनों का किया जाना अनुज्ञात किया गया है, तो संघ के लिए पृथक् निर्वाचक-मण्डलों के सर्जन पर किस प्रकार आक्षेप उठाया जा सकता है। उक्त दोनों बातों में कोई सादृश्य नहीं है। देश में प्रत्येक स्तर पर किसी न किसी रूप में जनतांत्रिक सरकार की स्थापना के पश्चात्, संविधान के अधीन नामनिर्देशन किसी प्राधिकारी/प्राधिकरण द्वारा विधान-मण्डल में सदस्य को लाने के लिए शक्ति के प्रयोग की कोटि में आता है, जो अंततः लोगों का प्रतिनिधित्व करता है, यद्यपि प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया कुछ कम अंतर्वलित हो सकती है। जहां तक सिक्किम में थोड़े से बौद्ध मठों का संबंध है, यह नहीं कहा जा सकता है कि वे उक्त पद के किसी भी अर्थ में सिक्किम के लोगों का प्रतिनिधित्व करने के लिए विधान-मण्डल में स्थान आबंटित करना स्वतः एक बुराई है; और उसके पश्चात् आरक्षित स्थान को अधिभोगाधीन (अपने कब्जे में) करने के लिए अपने प्रतिनिधि को निर्वाचित करने हेतु उनमें अनन्य अधिकार निहित करना उस बुराई को और बढ़ाना है। यह नहीं समझा जा सकता कि नामनिर्देशनों से संबंधित संविधान के किसी भी उपबंध से इसकी तुलना की जा सकती है। संविधान की सम्पूर्ण स्कीम से यह स्पष्ट है कि उसके आधारभूत दर्शन द्वारा भारत में पृथक् निर्वाचक-मण्डल की संकल्पना को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया गया है। ऊपर निर्दिष्ट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सलाहकार समिति के विचार-विमर्श और संविधान को अंतिम रूप देने से पूर्व संविधान सभा में होने वाले वाद-विवाद से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। न्यायालय यह मानने के लिए कोई कारण नहीं पाता कि संविधान में अनुच्छेद 371-च(च) अंतःस्थापित करते समय, इस आधारभूत और महत्वपूर्ण विषय पर निष्ठा को पूर्णतः उलट दिया गया, जो अन्यथा भी अनुज्ञेय नहीं था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शेष संविधान के आशय से संगत, अनुच्छेद 371-च (च) में विधान सभा निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन से संबंधित उपबंध का उसी अर्थ में निर्वाचन किया जाना है, जिस अर्थ में उक्त पद को अन्य उपबंधों में प्रयुक्त किया गया है। अनुच्छेद 371-च(च) में न तो उसकी स्पष्ट भाषा द्वारा और न अर्थान्वयन या आशय द्वारा, पृथक् निर्वाचक-मण्डल को अनुज्ञात किया गया है, और भिन्न अर्थान्वयन करने का कोई भी प्रयास न केवल अत्यधिक कृत्रिम और काल्पनिक होगा बल्कि उससे संविधान के एक आधारभूत लक्षण का भी उल्लंघन होगा। तदनुसार यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 25-क के उपबंध संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य हैं और यह बात धारा 7(1-क)(ग) को विखण्डित करने का एक और आधार है। (पैरा 36)

यदि अनुच्छेद 371-च के विभिन्न खण्डों पर विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल उपबंधों से विचलन करते हुए, अनेक अतिरिक्त उपबंध, सिक्किम की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, संविधान में सम्मिलित किए गए हैं। अनुच्छेद 170 द्वारा राज्यों की विधानसभा की न्यूनतम संख्या 60 (स्थान) नियत की गई है, जो सिक्किम जैसे छोटे राज्य के लिए बहुत अधिक थी, जिसकी कुल जनसंख्या केवल तीन लाख है। यह एक विशेष बात थी, जो उसे अन्य राज्यों से प्रभेदित करती थी। प्रतिनिधियों की संख्या का जनसंख्या से अनुपात साठ सदस्यों के सदन को न्यायोचित नहीं ठहराता था और इसलिए खण्ड (क) द्वारा न्यूनतम संख्या केवल 30 नियत की गई। स्पष्ट कारणों से, खण्ड (ग) और (ङ) अनुच्छेद में अंतःस्थापित किए जाने पड़े, क्योंकि सिक्किम के प्रति निर्देश से नियत दिन अन्य राज्यों के प्रति निर्देश से नियत दिन नहीं हो सकता था। लोकसभा में सिक्किम राज्य को एक स्थान आबंटित करने के लिए खण्ड (घ) भी सुसंगत हो गया। जहां तक खण्ड (ख) का संबंध है, वह सिक्किम के मात्र एक "सहबद्ध" राज्य से संघ के पूर्ण राज्य के रूप में सुचारू संपरिवर्तन के लिए अस्थायी अवधि के लिए आवश्यक हो

गया। उस अवधि के दौरान, जिसमें विलय के परिणाम को सांविधानिक रूप से कार्यान्वित किया जा रहा था, विषय स्थिति से बचने के लिए, राज्य के कृत्यकारियों को अपने कृत्यों का निर्वहन करने हेतु समर्थ बनाने के लिए विशेष अस्थायी उपबंधों की अत्यंत आवश्यकता थी। यदि अन्य खण्डों पर भी बारीकी से विचार किया जाता है, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि सिक्किम की विशेष आवश्यकताओं को देखते हुए, वे आवश्यक थे। अब प्रश्न यह है कि क्या भूटिया-लेप्चा जनजाति के संरक्षण के लिए, संविधान में पहले से ही उपबंधित रक्षोपाय अपर्याप्त थे, जिससे कि भारत के संविधान से, जैसा कि वह 36वें संशोधन से पूर्व था, असंगत रूप में, आरक्षण के विशेष उपबंध अपेक्षित (आवश्यक) या न्यायोचित हों। भूटिया-लेप्चा जनजाति की समस्या अनेक राज्यों की अन्य जनजातियों की समस्या के समान ही है, जहां उनकी संख्या साधारण जनसंख्या की तुलना में बहुत कम है, और जिस पर संविधान के भाग 16 में सम्मिलित, उनके पक्ष में आरक्षण हेतु उपबंधों द्वारा प्रभावी रूप से विचार किया गया है। न्यायोचित रूप में यह सुझाव नहीं दिया जा सकता है कि उक्त आरक्षणों के उपबंधों को अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) में अंतर्विष्ट परिसीमाओं के अधीन रख कर, भारत में जनजातियों को साधारण जनसंख्या के प्रबल बहुमत की दया पर छोड़ दिया गया है। भाग 16 में निहित आरक्षण उनके लिए पर्याप्त संरक्षण के उपाय (के रूप में) माने गए और वर्ष 1975 से जब सिक्किम का भारत में विलय हुआ, पूर्व लगभग साढ़े तीन दशक तक यह बात गलत साबित नहीं हुई थी। अतः यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि भूटिया-लेप्चा लोगों के पक्ष में पर्याप्त रक्षोपाय संविधान में पहले से ही उपलब्ध थे और केवल इस बात की ही आवश्यकता थी कि उन्हें अन्य जनजातियों के समान ही जनजाति के रूप में माना जाए। वस्तुतः इस स्थिति को वर्ष 1978 में ठीक रूप से समझा गया, जब भाग 16 के अनुच्छेद 342 के अधीन राष्ट्रपतीय आदेश जारी किया गया। अनुच्छेद 371-च(च) का निर्वचन, जैसा कि प्रत्यर्थियों की ओर से सुझाया गया है, उक्त आदेश के जारी किए जाने से असंगत है। अतः यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि खण्ड (च) का उद्देश्य इस समस्या से निपटना नहीं था और उसके द्वारा संसद् को लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 में धारा 7(1-क)(क) और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में धारा 5-क अंतःस्थापित करते हुए, संशोधन (1980 का अधिनियम सं० 8) तथा अन्य सम्बद्ध संशोधन पारित करने के लिए प्राधिकृत नहीं किया गया था। चूंकि उनसे अनुच्छेद 371-च(च) के उपबंधों सहित, सांविधानिक उपबंधों का उल्लंघन होता है, अतः वे शक्ति-बाह्य हैं। (पैरा 44)

जैसा कि उद्देशिका द्वारा स्पष्ट किया गया है, संविधान द्वारा परिकल्पित जनतंत्र की गुणवत्ता सभी नागरिकों को न केवल अवसर की बल्कि प्रतिष्ठा की समता भी सुनिश्चित करती है। यह समता सिद्धांत संविधान के विभिन्न भागों में अंतर्विष्ट अनेक अनुच्छेदों में स्पष्ट रूप से उजागर किया गया है, जिनमें भाग-3, जो मूल अधिकारों के संबंध में है, और भाग 4, जिसमें राज्य की नीति के निदेशक तत्व अधिकथित किए गए तथा भाग 16, जिसमें कतिपय वर्गों के संबंध में विशेष उपबंध हैं, भी सम्मिलित हैं। यह भावना संपूर्ण संविधान में व्याप्त है, जैसा कि अन्य उपबंधों में भी देखा जा सकता है। जब राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन हेतु अर्हता का प्रश्न उद्भूत होता है, तब सभी वर्गों के नागरिक अनुच्छेद 58 और 59 द्वारा समान व्यवहार प्राप्त करते हैं (कतिपय शर्तों के अधीन रहते हुए, जो एक समान रूप से लागू की जाती हैं) और उपराष्ट्रपति तथा अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों के संबंध में भी यही स्थिति है। भाग 3 में अंतर्विष्ट संरक्षण सभी को उपलब्ध हैं और राज्य लोगों के कल्याण की अभिवृद्धि और आजीविका के पर्याप्त साधन, न्याय, निःशुल्क कानूनी सहायता और प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य के अधिकार का संप्रवर्तन करने हेतु प्रयास करेगा। तथापि, कुछ विशेष प्रसुविधाएं कुछ कमजोर वर्गों को विस्तारित की गई हैं या विस्तारित की जा सकती हैं। किंतु यह बात उन्हें अन्य लोगों के साथ समान स्तर पर स्थित करने के लिए है, न कि समता के उद्देश्य को निरर्थक बनाने के लिए। जहां तक नियोजन के विषय में अवसर की समता के प्रश्न का संबंध है, पिछड़े वर्गों के पक्ष में पदों के आरक्षण के लिए उपबंध सम्मिलित किए गए हैं, जिनका सेवाओं में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व हो। उसी आधार पर कल्याणकारी उपाय भी अनुज्ञात किए गए हैं किंतु जब संसद या राज्य विधान-मण्डल में आरक्षण का विषय आता है, तब उसे भाग 16 में भिन्न रूप में प्रतिपादित (वर्णित) किया गया है। अनुच्छेद 330 के खण्ड (2) और अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) में उस अनुपात को रखने के लिए नियम अधिकथित किया गया है, जो (अनुपात) उस वर्ग की जनसंख्या का कुल जनसंख्या से है। यह बात काफी महत्वपूर्ण है। संविधान में आरक्षण का उपबंध करने का एकमात्र उद्देश्य कार्य के लिए समान प्रतिष्ठा के सिद्धांत को आगे रखना है। जहां तक राज्य सेवाओं में पिछड़े वर्ग के अपर्याप्त प्रतिनिधित्व के मामले का संबंध है, इस समस्या को एक ही प्रयास में नहीं सुलझाया जा सकता है; और परिणामतः अनेक सुसंगत उपबंधों को नम्य बनाया गया है, जिसके द्वारा पर्याप्त अनुपातिक प्रतिनिधित्व के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अधिक व्यापक विवेकाधिकार अनुज्ञात किया गया है। विधान-मण्डल में आरक्षण की बाबत स्थिति पूर्णतः भिन्न है। जैसे ही आनुपातिक प्रतिनिधित्व के उपबंधों के अनुसार निर्वाचन आयोजित किया जाता है, वैसे ही उक्त उद्देश्य की तुरन्त पूर्ति हो जाती है, क्योंकि बैकलॉग (पिछला/बकाया) की किसी समस्या का समाधान नहीं करना होता है। पूर्वतर विधान-मण्डल के तिरोहित होने पर, नए निर्वाचन के मार्ग को प्रशस्त करते हुए, लोग अपने समक्ष खुला मार्ग पा सकते हैं। इस स्थिति में अत्यधिक आरक्षण से असंतुलन आ जाएगा—निस्संदेह, जो एक अन्य प्रकार का होगा—किन्तु फिर भी उससे समान प्रतिष्ठा का उद्देश्य निरर्थक हो जाएगा। पेण्डुलम सीधा स्थिर नहीं रहता है—वह दूसरी ओर चला जाता है। दोनों ही मामलों में समता-खण्ड पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। दोनों ही स्थितियों से यह उद्देश्य निरर्थक हो जाता है, जिसके लिए जनतांत्रिक शक्तियों ने स्वतंत्रता का युद्ध लड़ा; और उन स्थितियों से, संविधान द्वारा जो कुछ प्राप्त किया गया है, वह अकृत हो जाता है। स्पष्टतः इससे संविधान के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन होता है। अतः यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि यदि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) का इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाता है कि उससे संसद् को आक्षेपित उपबंध अधिनियमित करने के लिए प्राधिकृत किया गया है, तो उससे संविधान के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन होगा और इसलिए वह शून्य है। (पैरा 48)

ऊपर व्यक्त मत वर्तमान मामलों के निपटारे के लिए पर्याप्त हैं,

1993(2) eILR(PAT) SC 143

किंतु निर्णय समाप्त करने से पूर्व, एक और कोण से मामले पर विचार करना समीचीन होगा। प्रत्यर्थियों के विद्वान् अधिवक्ताओं ने सशक्त रूप से यह दलील दी कि आक्षेपित उपबंधों को कायम रखा जाना चाहिए और सिक्किम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण ये रिट याचिकाएं खारिज कर दी जानी चाहिएं। बारबार इस बात पर बल दिया गया कि त्रिपक्षीय करार के पांचवें निबंधन को देखते हुए और इस तथ्य को देखते हुए कि चोग्याल द्वारा संघ स्थान काफी पहले वर्ष 1958 में सर्जित किया गया था, उन व्यवस्थाओं में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, जिनके बारे में पक्षकारों द्वारा करार (सहमति) किया गया था। इस संबंध में विभिन्न प्रत्यर्थियों के काउंसेलों और अनेक मध्यक्षेपियों ने चोग्याल की, एक के बाद एक, अनेक उद्घोषणाओं के प्रति निर्देश किया। न्यायालय के मतानुसार, इस स्थिति के निर्वचन (की व्याख्या) पर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रभाव इसके विपरीत है। उक्त अवधि के दौरान, जिसके प्रति पहले निर्देश किया गया है, अपने प्राधिकार को बनाए रखने के लिए प्रयासरत निरंकुश चोग्याल और जनतांत्रिक शासन की स्थापना की मांग करने वाले लोगों के बीच लड़ाई चल रही थी। अतः शासक की प्रेरणा से करार में सम्मिलित किए गए निबंधनों या उसकी उद्घोषणाओं को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता है। दूसरी ओर, लोगों की उस मांग पर विचार करना सुसंगत होगा, जो अंततः सफल हुई। यदि न्यायालय चोग्याल की शक्ति और सत्ता से चिपके रहने तथा लोगों द्वारा आरम्भ की गई जनतांत्रिक प्रक्रिया को ध्वंस करने के उनके निराशापूर्ण प्रयास में उनके कार्यों और लोपों को सम्मान देते हुए और उन्हें कार्यान्वित करते हुए, इस स्थिति का निर्वचन (की व्याख्या) करने के लिए अग्रसर होता है, तो इतिहास का पुनः लेखन करना होगा और सिक्किम के लोगों को उस चीज से वंचित करना होगा, जो वे समय-समय पर चोग्याल की पकड़ से निकाल लेने में समर्थ हुए, जिसकी परिणति अंततः सिक्किम के भारत में विलय के रूप में हुई। संघ-स्थान का आरक्षण भी ऐसे ही जन-विरोधी कार्यों में से एक कार्य था। जहां तक तारीख 16 मई, 1968 की उद्घोषणा के टिप्पण का संबंध है, यदि उसे प्रवर्तित किया जाना है, तो नेपाली लोग भी भूटिया-लेप्चा लोगों के लिए आरक्षित स्थानों के समान स्थानों के आरक्षण के लिए हकदार होंगे और सत्तारूढ़ प्राधिकारी द्वारा नामनिर्देशन हेतु स्थानों की उतनी संख्या ही आरक्षित रखी जानी चाहिए। कुछ प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री भट्ट ने वस्तुतः नेपाली लोगों के आरक्षण हेतु उनके दावे पर गम्भीरतापूर्वक बल दिया। यह संपूर्ण चिंतन-धारा पूर्णतः मिथ्या धारणा पर आधारित है। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि जैसे ही प्रभावी प्राधिकार से युक्त विधान-सभा का गठन किया गया, वह उस चीज को अकृत करने के लिए अग्रसर हुई, जिसका प्रत्यर्थियों की ओर से अवलंब लिया जा रहा है। जब उसने तारीख 10 अप्रैल, 1975 को ऐतिहासिक संकल्प पारित किया, जिस पर पहले विस्तार से बहस की जा चुकी है, तब करार का पांचवां निबंधन अधित्यजित कर दिया गया और जब लोगों को जनमत संग्रह द्वारा अपनी राय व्यक्त करने के लिए आमंत्रित किया गया, तो उन्होंने अपना अधिमत व्यक्त किया, जो ऐसी किसी शर्त द्वारा निर्बन्धित नहीं था और जो प्रायः सर्वसम्मत था। ऐसा इसलिए था कि लोगों को यह मालूम था कि भारतीय संविधान के अंतर्निहित रक्षोपाय मामले के इस पहलू से निपटने के लिए पर्याप्त थे। ऐसे तर्क का यह पूर्ण उत्तर है। इतिहास, जहां तक वह संगत है, भूटिया-लेप्चा लोगों और संघ के पक्ष में अत्यधिक आरक्षण को निश्चित रूप से अनुचित सिद्ध करता है। संविधान के 36वें संशोधन को इन बातों के प्रकाश में ही समझा जाना है। (पैरा 49)

न्यायालय का यह निष्कर्ष है कि आक्षेपित उपबंध, जिनमें अनुच्छेद 371-च(च) भी सम्मिलित है, संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य हैं। परिणामतः आक्षेपित उपबंधों के अधीन आयोजित निर्वाचन के आधार पर गठित वर्तमान सिक्किम विधान सभा को अवैध रूप से गठित घोषित किया जाना है। अतः संबंधित प्राधिकारियों को, शेष देश को यथा-लागू संविधान से संगत विधि के अधीन नए सिरे से और तुरन्त कदम उठाने चाहिए। तदनुसार रिट याचिकाएं, रिट याचियों को संदेय खर्चों सहित, मंजूर की जाती हैं। (पैरा 50)

बहुमत के निर्णय को देखते हुए, अब इन सभी याचिकाओं को खारिज किया जाना है, किंतु इस बात पर बल दिया जाना उचित होगा कि उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि संसद ने आक्षेपित उपबंधों को अधिनियमित करते समय, अपनी सांविधानिक और विधायी शक्तियों का अतिक्रमण नहीं किया है और परिणामतः रिट याचिकाओं को खारिज किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि संसद उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण विभेदकारी उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिए आबद्ध है, जिसमें सिक्किम भारत संघ में सम्मिलित हुआ। संबंधित विवाद्यक पर कोई विनिश्चय करना संविधान के विवेक (प्रज्ञा) का विषय है (जैसा कि बहुमत के निर्णय के पैरा 30 में कहा गया है), और जैसा कि उक्त पैरा में संकेत दिया गया है, वर्तमान स्थिति आशाजनक रूप से अस्थायी अवस्था हो सकती है। निर्णय के पैरा 31 में अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) में अंतर्विष्ट उपबंधों को "समर्थकारी उपबंधों" के रूप में वर्णित किया गया है, न कि "बाध्यकारी उपबंधों" के रूप में। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि इस न्यायालय को आक्षेपित उपबंधों को विखंडित करने के लिए कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं है। (तथापि) "गलती" को ठीक करना पूर्णतः संसद् के अधिकार क्षेत्र में आता है। विभिन्न समूहों (वर्गों) को समनुदेशित, देश के राज्यतंत्र में भूमिका के असमान प्रभाजन की, हानिकर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है, जिससे लोगों के बीच सद्भावना और भाई-चारे की भावना का ह्रास होता है और विभाजनकारी शक्तियों को प्रोत्साहन और बल मिलता है। संघों के लिए स्थान के आरक्षण और पृथक् निर्वाचक-मण्डल के सर्जन का और भी अधिक विनाशकारी प्रभाव है। धर्म को, जैसा कि उसे आजकल समझा जाने लगा है, शासन से संगति नहीं बैठती; ऐसे अनुपयुक्त समुच्चय का पारिणामिक विस्फोटक परिणाम कुछ दशक पूर्व ही राष्ट्र की एकता के लिए घातक सिद्ध हुआ है, जिसके कारण देश का विभाजन हुआ। उसके तुरन्त पश्चात् संविधान के निर्माण का कार्य आरम्भ किया गया। इस खतरनाक प्रवृत्ति के कारण ही देश ने एक हजार वर्ष तक कष्ट भोगा है, जिसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर विनाशकारी संघर्ष और बार-बार रक्तपात हुआ है। आज एक राज्य के विधान-मण्डल में एक स्थान स्पष्ट रूप से अवेक्षणीय नहीं है और वह अपूरणीय क्षति कारित करने में स्वतः सक्षम नहीं भी हो सकता है, किंतु वैमनस्य का यह बीज भयानक दैत्य का रूप धारण करने की सामर्थ्य रखता है। यह सच है कि असुविधाग्रस्त वर्गों के लिए संविधान में कुछ विशेष अधिकार परिकल्पित किए गए हैं किंतु ऐसा उस असुविधा को दूर

करने के लिए ही किया गया है, जिनसे वे वर्ग ग्रस्त हैं, न कि अल्पसंख्यक प्रास्थिति की श्रेयस्कर (अच्छी चीज) बता कर एक अन्य प्रकार का असंतुलन पैदा करने के लिए। अतः संविधान में, उस परिमाण (सीमा) पर कठोर परिसीमाएं अधिरोपित करने की पूर्वावधानी बरती गई है, जिस तक यह महत्व (विशेष व्यवहार) दिया जा सकता है, और ऐसा अभिव्यक्त उपबंधों को सम्मिलित करके किया गया है तथा यह विशेष पश्चात्वर्ती अधिनियमितियों का विषय बनाए जाने के लिए नहीं छोड़ा गया है — ये परिसीमाएं दो प्रकार से अधिरोपित की गई हैं — प्रथमतः, विधान-मण्डलों में स्थानों के आरक्षण पर अधिकतम सीमा अधिरोपित करके; और द्वितीयतः धर्म को विभेद के आधार के रूप में अपवर्जित करते हुए। इन परिसीमाओं की उपेक्षा करने का अर्थ छोटे-छोटे समूहों और वर्गों को,— जो एक न एक आधार पर देश में काफी बड़ी संख्या में मौजूद हैं— पृथक् समूहों और वर्गों के सदस्यों के रूप में अपनी विशेष प्रास्थिति पर अड़े रहने और उसका अवलंब लेने तथा राष्ट्र की मुख्यधारा में सम्मिलित न होने और भारतीयों के रूप में अपनी पहचान न होने देने के लिए प्रोत्साहन देना होगा। अतः यह पूर्णतः आवश्यक है कि धर्म को, चाहे उस पर कोई भी मुखौटा चढ़ा हो या उसे किसी भी आवरण द्वारा छिपाया गया हो, राज्य की शक्तियों के प्रयोग के लिए अनन्यतः आरक्षित क्षेत्र से बाहर रखा जाना चाहिए। न्यायालय के मतानुसार, यह संदेश सदा स्पष्ट रहा है और अब यह राष्ट्र का काम है कि वह संदेश पर ध्यान दे और अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से उस संदेश को कार्यान्वित करे। (पैरा 50)

न्या० वेंकटाचलैया—

संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा जोड़े गए अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी गई है कि उक्त उपबंध में ऐसे आरक्षण का उपबंध किया गया है, जिससे "एक व्यक्ति, एक मत" के नियम का उल्लंघन होता है, जो (नियम) जनतंत्र के लिए आवश्यक है, जो (जनतंत्र) संविधान का एक आधारभूत लक्षण है निस्संदेह अनुच्छेद 2 के अधीन संघ में नए राज्यों का प्रवेश (को सम्मिलित) करने की शक्ति, वस्तुस्थिति को देखते हुए, बहुत ही व्यापक है और उसके प्रयोग को, अनिवार्यतः अत्यधिक जटिलता के राजनैतिक विवाद्यकों (मुद्दों) द्वारा नियंत्रित होना चाहिए, जिनमें से अनेक न्यायिक रूप से प्रबंधनीय नहीं भी हो सकते हैं। किंतु इस कारण यह नहीं कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 2 द्वारा संसद् को न्यायिक संवीक्षा से उन्मुक्त अपुनर्विलोकनीय और अनियंत्रित शक्ति प्रदत्त की गई है। उक्त शक्ति भारतीय संविधानवाद के आधारभूत तत्वों द्वारा सीमित की गई है, और वे निबंधन तथा शर्तें, जिन्हें संसद् अधिरोपित करना उचित समझती है, वे संविधान के आधारभूत सिद्धांतों से असंगत नहीं हो सकती हैं और सांविधानिक स्कीम का उल्लंघन और ध्वंस नहीं कर सकते हैं। ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि वे शर्तें, जिनके अधीन कोई नया राज्य या राज्यक्षेत्र संघ में सम्मिलित किया जाता है, ठीक-ठीक वैसी ही होनी चाहिए जैसी कि वे शर्तें, जो संविधान के प्रारम्भ के समय सभी अन्य राज्यों को लागू थीं। तथापि यह तर्क दिया गया है कि अनुच्छेद 371-च अध्यारोही खण्ड से आरम्भ होता है और इसलिए संविधान के अन्य उपबंधों द्वारा शर्तें अधिरोपित करने की शक्ति सीमित नहीं की गई है। किंतु अनुच्छेद 371-च संविधान के आधारभूत लक्षणों का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। अध्यारोही खण्ड का इस प्रकार अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता है कि वह अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) को स्वयं संशोधनकारी शक्ति पर अधिरोपित परिसीमा से बाहर ले जाता है। अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) और अनुच्छेद 2 के उपबंधों का सामंजस्यपरक रूप में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए, जो संविधान के आधारभूत सिद्धांतों और आधारभूत लक्षणों से संगत हों। यह प्रश्न कि क्या खण्ड (च) का संविधान के आधारभूत लक्षण को नष्ट करने का प्रभाव है, इस प्रश्न पर निर्भर करता है कि क्या स्वयं जातीय समूह पर आधारित विधान-मण्डल में स्थानों का आरक्षण जनतांत्रिक सिद्धांत के लिए विनाशकारी है। इन दलीलों के गुणागुण कुछ भी क्यों न हों, यह नहीं कहा जा सकता है कि उठाए गए विवाद्यक न्याय्य नहीं है। यदि अनुच्छेद 371-च का खण्ड (च) विधिमान्य है भी, तब भी यदि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के साथ पठित, अनुच्छेद 2 के अधीन बनाई गई विधि में वर्णित निबंधन और शर्तें सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय छूट से परे जाती हैं, (तो) उक्त विधि की विधिमान्यता को निश्चय ही प्रश्नगत किया जा सकता है। इस दलील को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उक्त उपबंधों की शक्तिमत्ता और ऐसी विधि के प्रभाव (परिणाम) न्याय्य नहीं हैं। (पैरा 70)

सांविधानिक स्कीम की परीक्षा से यह उपदर्शित होगा कि "एक व्यक्ति, एक मत" की संकल्पना, स्वप्रकृत्या असंतुलनों और अत्यधिक कठोर प्रयुक्ति (लागू किया जाना) और प्रवर्तन से विचलनों को काफी सीमा तक सहन करती है। संविधान का वह उपबंध, जिसमें प्रतिनिधित्व की आनुपातिकता उपदर्शित की गई है, अनिवार्यतः एक व्यापक, साधारण और तर्कसंगत सिद्धांत है किंतु उसका गणितीय प्रमितता के साथ व्यक्त किया जाना आशयित नहीं है। अनुच्छेद 332(3-क) और 333 इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं। प्रतिनिधित्व की गणितीय आनुपातिकता का सिद्धांत भारत राज्यक्षेत्र के प्रत्येक भाग में घोषित आधारभूत अध्यपेक्षा नहीं है। भारत के विभिन्न भागों में राजनीतिक परिपक्वता, सजगता और राजनीतिक विकास की मात्रा को ध्यान में रखते हुए, समंजन और समायोजन देश के कुछ भागों में पूर्णतः या भागतः अ-निर्वाचित विधान सभाओं के लिए भी, औचित्य प्रदान कर सकते हैं। देश के विभिन्न भागों में राजनीतिक विकास और परिपक्वता के विभिन्न परिमाण गणितीय शुद्धता पर आधारित मानकों को न्यायोचित नहीं भी ठहरा सकते हैं। अनुच्छेद 371-च, जो नागालैंड राज्य की बाबत एक विशेष उपबंध है, अनुच्छेद 239-क और अनुच्छेद 240 विचलन के अनुज्ञेय क्षेत्रों और परिमाणों को स्पष्ट करते हैं। पूर्ण और प्रभावी प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के अतिरेक में व्यवस्थागत कमियों को सांविधानिक दर्शन में इस प्रकार नहीं समझा गया है कि वे जनतांत्रिक सिद्धांत के अल्पीकरण में हैं। वस्तुतः मामले में, इस परिप्रेक्ष्य में, दिया गया तर्क वास्तव में समानता के सिद्धांत का उल्लंघन करता है, न कि जनतांत्रिक सिद्धांत का। वर्तमान मामले में प्रतिनिधित्व में असमानताएं विगतकाल की विरासत और बाध्यताएं हैं। ऐतिहासिक विचारणाओं से विभेदकारी व्यवहार का औचित्य सिद्ध हो जाता है। अनुच्छेद 371-च (च) के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उससे जनतांत्रिक सिद्धांत जैसे संविधान के किसी आधारभूत लक्षण का उल्लंघन होता है। (पैरा 80)

वर्ष 1975 से और आगे, जब आक्षेपित उपबंध अधिनियमित किए गए, सिक्किम राजनीतिक समाज और राजतंत्रात्मक पद्धति से विकसित होकर जीवन की जनतांत्रिक पद्धति और औद्योगिक सभ्यता की मुख्य धारा में सम्मिलित हो रहा है। इस राजनीतिक रूपांतरण की प्रक्रिया और प्रगति अनिवार्यतः विगतकाल की उसकी संस्थाओं पर निर्भर करती (अवलम्बित) हैं। संविधान का अस्तित्व मात्र, स्वतः, सांविधानिक वाद या सांविधानिक संस्कृति को सुनिश्चित नहीं करता है। लोगों की राजनीतिक परिपक्वता और परम्पराएं ही संविधान को अर्थ प्रदान करती हैं , जिसमें अन्यथा राजनीतिक आशाएं और आदर्श सन्निविष्ट मात्र होते हैं। अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के उपबंध और निर्वाचन विधियों में पारिणामिक परिवर्तन सिक्किम की राजनीतिक संस्थाओं के विकास की गति को मान्यता प्रदान करने और उसे उचित स्थान देने तथा इस परिवर्तन को क्रमिक और शान्तिपूर्ण बनाने तथा जातीय निष्ठा और पहचान के आधार पर जनसंख्या के एक भाग के दूसरे भाग पर आधिपत्य को निवारित करने के लिए आशयित थे। ये समायोजन और समंजन सामाजिक संतुलन बनाए रखने के लिए राजनीतिक समीचीनता को परिलक्षित करते हैं राजनीतिक और सामाजिक परिपक्वता और आर्थिक विकास, समयानुक्रम में, सिक्किम के लोगों को इन जातीय आशंकाओं और असंतुलनों को दूर करने में सहायक हो सकते हैं और भविष्य में—ऐसी आशा की जाती है कि शीघ्र ही वहां समतावादी व्यवस्था स्थापित होगी। वस्तुतः, आक्षेपित उपबंध, स्वप्रकृत्या, सिक्किम के राजनीतिक विकास में एक अस्थायी दौर (संक्रमण काल) को अनुध्यात और उपबंधित करते हैं तथा वे प्रकृति में अनिवार्यतः अस्थायी हैं। यह सच है कि आक्षेपित उपबंधों द्वारा लाए गए प्रकार और विस्तार के स्थानों का आरक्षण, यदि उसे संघ के विद्यमान राज्यों को लागू किया जाता है, सांविधानिक कसौटी पर सही नहीं भी उतर सकता है। किंतु संघ में प्रविष्ट (सम्मिलित) नए राज्य क्षेत्र के संबंध में, निबंधन और शर्तें ऐसी नहीं हैं कि वे अनुज्ञेय सांविधानिक परिसीमाओं से बाहर रहें। ऐतिहासिक विचारणाएं और बाध्यताएं असमानता और विशेष व्यवहार को न्यायोचित ठहराती हैं। न्यायालय का यह मत है कि संसद् की प्रज्ञा के अनुसार, संघ में महत्वपूर्ण सीमांत राज्य के प्रवेश के लिए आक्षेपित उपबंध आवश्यक पाए गए हैं। विचलन ऐसे नहीं हैं, जो जनतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों को ही नकार देते हों। दलील (ख), (ग) और (घ) का भी याचियों के विरुद्ध उत्तर दिया जाता है। (पैरा 81)

श्री जैन ने यह निवेदन किया कि अनुच्छेद 371-च के खण्ड(च) की यह अपेक्षा है कि सिक्किम की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करने के प्रयोजन के लिए जहां कहीं स्थानों के आरक्षण हेतु उपबंध आवश्यक समझे जाते हैं, वहां ऐसे आरक्षण सभी वर्गों के लिए किए जाएंगे, न कि उनमें से केवल एक वर्ग के लिए, जैसी कि स्थिति इस मामले में है। इस दलील में इस तथ्य की उपेक्षा की गई है कि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) में अंतर्विष्ट उपबंध मात्र समर्थकारी है। यदि संसद् द्वारा केवल एक वर्ग के लिए आरक्षण किया जाता है, तो विवक्षा द्वारा उसका यह अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि उसने नकारात्मक अर्थ में अन्य वर्गों का सम्मान करते हुए, शक्ति का प्रयोग किया है। वस्तुतः उक्त उपबंध द्वारा किसी विशेष वर्ग तक ही सीमित आरक्षण को समर्थ (सम्भव) बनाया गया है। (पैरा 82)

श्री जैन ने यह दलील भी दी कि भूटिया और लेप्चा लोगों को संविधान (सिक्किम अनुसूचित जनजातियां) आदेश, 1978 के अधीन अनुसूचित जनजातियों के रूप में घोषित किया गया था और उनके पक्ष में आरक्षण की सीमा को अनिवार्यतः संविधान के अनुच्छेद 332 (3) के उपबंध लागू होंगे, जिसमें यह अपेक्षा की गई है कि आरक्षित किए जाने वाले स्थानों की संख्या का अनुपात उस विधान सभा में स्थानों की कुल संख्या से यथाशक्य वही होगा, जो राज्य में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या का राज्य की कुल जनसंख्या से है। किंतु अनुच्छेद 371-च का खण्ड (च) अनुच्छेद 332(3) से विचलन को समर्थ बनाने के लिए है। अध्यारोही खण्ड का, जिससे अनुच्छेद 371-च आरम्भ होता है, यही स्पष्ट क्रियात्मक (प्रवर्तनकारी) प्रभाव है। श्री जैन ने कतिपय जनसंख्या आंकड़ों की सहायता से यह उपदर्शित किया है कि बीस प्रतिशत की जनसंख्या के लिए वर्तमान मामले में 38 प्रतिशत आरक्षण की मात्रा अननुपातिक है। इस तथ्य को भी ऐतिहासिक घटना-क्रम और राजनीतिक शक्ति के प्रभाजन के नियमों की पृष्ठभूमि में देखा जाना है, जो भारत में सिक्किम राज्यक्षेत्र के विलय से पूर्व विभिन्न समूहों में प्रवर्तित थे। हर प्रक्रम पर समानता बरती गई थी। न्यायालय की यह राय है कि विशेष स्थिति में उपबंध और अनुज्ञेय छूट असंवैधानिक नहीं कही जा सकती है।

संघ, बुद्ध और धर्म, बौद्ध मत के तीन आधारभूत तत्व और प्रतीक हैं। उस अर्थ में वे धार्मिक संस्थाएं हैं। तथापि, सिक्किम की राजनीतिक संस्थाओं के विकास के इतिहास पर साहित्य की, जिसका पहले उल्लेख किया गया है यह दर्शित करने की प्रवृत्ति है कि संघ ने सिक्किमी लोगों के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उसने सिक्किम की संस्कृति और राजनीतिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया था। इस निष्कर्ष की पुष्टि करने के लिए सामग्री मौजूद है कि "संघ" काफी लम्बे समय तक सिक्किम के राजनीतिक घटना-क्रमों से निकटतापूर्वक संबद्ध रहा था और वह उसके लोगों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन से जुड़ा रहा था। इस ऐतिहासिक सहयोजन को देखते हुए, संघ के लिए एक स्थान के आरक्षण के विषय में उपबंधों में, उसकी पूर्णतः धार्मिक पहचान की तुलना में, इस संस्था की सामाजिक और राजनीतिक भूमिका को अधिक मान्यता प्रदान की गई है। सिक्किम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उसके सामाजिक और राजनीतिक विकास को देखते हुए, उक्त उपबंध का वस्तुतः इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना है कि उसमें पृथक् निर्वाचक-मण्डल के अननुज्ञेय विचार का अवलंब नहीं लिया गया है। वास्तव में, उक्त उपबंध अनुच्छेद 333 के सदृश है, जिसमें आंग्ल-भारतीय समुदाय के लिए प्रतिनिधित्व का उपबंध किया गया है। जहां तक संघ के लिए उपबंध का संबंध है, उसे नामनिर्देशन को समर्थ बनाने वाले उपबंध के रूप में ही देखा जाना है किंतु नामनिर्देशिती का चयन "स्वयं" संघ के लिए छोड़ा जाना है। इस तथ्य से अवगत है कि किसी धार्मिक सम्प्रदाय के लिए पृथक् निर्वाचक-मण्डल धर्मनिरपेक्ष संविधान के आधारभूत सिद्धांतों के लिए हानिकर होगा। यदि पृथक् निर्वाचक-मण्डल के आधार पर किसी धार्मिक समूह के सदस्य के निर्वाचन के लिए धार्मिक विचारणाओं के आधार पर ही उपबंध किया जाता है, तो वस्तुतः वह पूर्णतः असंवैधानिक होगा। किन्तु संघ के मामले में, वह केवल धार्मिक संस्था ही नहीं है। वह सिक्किम में ऐतिहासिक रूप में एक

राजनीतिक और सामाजिक संस्था रहा है और आरक्षित स्थान के संबंध में उक्त उपबंध का नामनिर्देशन के रूप में अर्थान्वयन किया जाना उचित है और स्वयं "संघ" को अपने नामनिर्देशिती के चयन (की पसंद) का काम सौंपा गया है और उसे उपदर्शित करने के लिए उसे समर्थ बनाया जाना है। इस अर्थान्वयन के आधार पर उक्त उपबंध को कायम रखा जा सकता है। (पैरा 83)

निस्संदेह यह सच है कि किसी नए राज्य के भारत संघ में प्रवेश (सम्मिलित किए जाने) के विषय में अनुच्छेद 2 द्वारा संसद् को ऐसे निबंधन और शर्तें विहित करने के लिए काफी स्वतंत्रता प्रदत्त की गई है, जिन पर किसी नए राज्य को भारत संघ में प्रवेश दिया (सम्मिलित किया) जा रहा है। किंतु इसके साथ ही, यह नहीं किया जा सकता है कि उक्त स्वतंत्रता किसी सांविधानिक सीमा के बिना है। न्यायालय के मतानुसार, अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् को प्रदत्त शक्ति समग्र सांविधानिक स्कीम द्वारा सीमित की गई है और संसद्, उन निबंधनों और शर्तों को विहित करते समय, जिन पर किसी नए राज्य को भारत संघ में प्रवेश दिया (सम्मिलित किया) जाता है, उक्त स्कीम के अंतर्गत कार्य करना है। संसद् ऐसे निबंधनों और शर्तों पर किसी नए राज्य को भारत संघ में प्रवेश नहीं दे (सम्मिलित नहीं कर) सकती है, जो संविधान के आधारभूत लक्षणों के अल्पीकरण में हैं। वह ऐसी विधि नहीं बना सकती है, जिसके द्वारा उक्त राज्य को "राजतंत्र" के रूप में बने रहने के लिए अनुज्ञात किया जाता है।

क्योंकि ऐसा करना संविधान के अधीन स्थापित सरकार के जनतांत्रिक रूप के अल्पीकरण में होगा। इसी प्रकार संसद् के लिए यह विहित करना अनुज्ञेय नहीं होगा कि नया राज्य प्रशासन का निरंकुश स्वरूप बनाए रखेगा, जब संविधान में सभी राज्यों में सरकार के जनतांत्रिक रूप की परिकल्पित किया गया है। इसी प्रकार संसद् के लिए यह उपबंध करने का भी अधिकार नहीं होगा कि नया राज्य, दूसरे राज्यों में विद्यमान धर्म-निरपेक्ष तंत्र की उपेक्षा करते हुए, धार्मिक राज्य बना रहेगा। इससे अन्यथा अभिनिर्धारित करने का अर्थ यह होगा कि संसद् के लिए ऐसे निबंधनों और शर्तों पर नए राज्यों को संघ में प्रवेश देना (सम्मिलित करना) अनुज्ञेय होगा, जिनके द्वारा उन राज्यों का ऐसी पद्धतियों के अधीन शासन सम्भव बनाया जाएगा, जो संविधान की स्कीम से असंगत हैं, और तद्द्वारा उसके लिए संविधान के आधारभूत लक्षणों में परिवर्तन करना अनुज्ञेय होगा। इससे यह विषम परिणाम निकलेगा कि अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् द्वारा अधिनियमित किसी सामान्य विधि द्वारा ऐसा परिवर्तन लाना सम्भव हो जाएगा, जो संविधान में संशोधन करने के लिए, अर्थात् संविधान के किसी आधारभूत लक्षण में परिवर्तन करने के लिए सांविधानिक शक्ति के प्रयोग द्वारा भी नहीं किया जा सकता है। अतः संविधान के अनुच्छेद 2 में "जो वह ठीक समझे" शब्दों का इस प्रकार अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता है कि उनके द्वारा संसद् को नए राज्य के प्रवेश (सम्मिलित किए जाने) के लिए निबंधनों और शर्तों का उपबंध करने के लिए सशक्त किया गया है, जो संविधान के आधारभूत लक्षणों से असंगत हैं। उक्त शब्दों का केवल यही अर्थ हो सकता है कि संविधान के ढांचे के अंतर्गत संसद् के लिए ऐसे निबंधन और शर्तें विहित करना अनुज्ञेय है, जिन पर संघ में किसी नए राज्य को प्रवेश दिया (सम्मिलित किया) जाता है। (पैरा 116)

संघ में नए राज्य को प्रवेश देते (सम्मिलित करते) समय, संसद्, अनुच्छेद 2 के अधीन विधि बनाते समय, ऐसे निबंधनों और शर्तों का उपबंध नहीं कर सकती है, जो संविधान की स्कीम से असंगत हैं, और न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करने का अधिकार प्राप्त है कि अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् द्वारा अधिनियमित विधि में यथा-उपबंधित निबंधन और शर्तें सांविधानिक स्कीम से असंगत हैं या नहीं। इसका अर्थ यह होगा कि अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् को प्रदत्त शक्ति, परिधि में, अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधनकारी शक्ति से अधिक व्यापक नहीं है और अनुच्छेद 371-च को संविधान के अनुच्छेद 2 के अधीन बनाई गई या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन के रूप में जोड़ी गई विधि के रूप में मानना व्यावहारिक रूप से महत्वपूर्ण नहीं होगा। (दोनों में से) किसी भी दशा में, वह इस परिसीमा के अधीन होगा कि वह संविधान के किसी आधारभूत लक्षण को परिवर्तित नहीं कर सकती है। अतः अनुच्छेद 371-च द्वारा प्रदत्त शक्ति की परिधि न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है। इसी प्रकार वह विधि भी न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है, जो अनुच्छेद 371-च में अंतर्विष्ट उपबंधों को प्रभावी बनाने के लिए अधिनियमित की जाती है। अतः श्री पाराशरन् और विद्वान् महा-न्यायवादी द्वारा दी गई यह दलील स्वीकार नहीं की जा सकती है कि ऐसी परीक्षा न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि से बाह्य है। (पैरा 119)

श्री पाराशरन् और विद्वान् महा-न्यायवादी ने "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" पद के प्रयोग पर बल दिया है, जो अनुच्छेद 371-च के खण्ड (क) से (त) से पहले आया है। यह निवेदन किया गया है कि अनुच्छेद 371-च में उक्त अध्यारोही खण्ड के परिणामस्वरूप, संसद् के लिए, अनुच्छेद 371-च के खण्ड (क) से (त) को प्रभावी बनाते हुए, संविधान के अन्य उपबंधों के अल्पीकरण में विधि अधिनियमित करना अनुज्ञेय है और उक्त विधि को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि उससे संविधान के किसी अन्य उपबंध का उल्लंघन होता है। इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि किसी कानून में अध्यारोही खण्ड, कानून में अन्य उपबंधों पर, जिन्हें वह लागू होता है, अध्यारोही खण्ड के अंतर्गत आने वाले उपबंधों को अध्यारोही प्रभाव प्रदान करता है, और इस अर्थ में अनुच्छेद 371-च में प्रयुक्त अध्यारोही खण्ड अनुच्छेद 371-च के खण्ड (क) से (त) को अध्यारोही प्रभाव प्रदान करेगा। किंतु इसके साथ ही इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि अनुच्छेद 371-च में अध्यारोही खण्ड की परिधि अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् की विधायी शक्ति की परिधि से परे नहीं जा सकती है। अनुच्छेद 2 के अधीन विधायी शक्ति द्वारा संसद् को ऐसे निबंधनों और शर्तों का उपबंध करने वाली विधि बनाने के लिए समर्थ नहीं बनाया गया है, जो सांविधानिक स्कीम से असंगत हैं, और उस अर्थ में, उक्त शक्ति अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधनकारी शक्ति से अधिक भिन्न नहीं है, जो संविधान के किसी आधारभूत लक्षण को परिवर्तित करने की सीमा तक नहीं जाती है। अतः अनुच्छेद 371-च में अध्यारोही खण्ड का इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना है कि वह पूर्वोक्त परिसीमाओं के अनुरूप हो, अन्यथा अनुच्छेद 371-च असंवैधानिक हो जाएगा। ऐसे अर्थान्वयन से बचा जाना है, जिससे ऐसा परिणाम सामने आता हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुच्छेद 371-च में अध्यारोही खण्ड के परिणामस्वरूप, उक्त

1993(2) eILR(PAT) SC 143

अनुच्छेद के खण्ड (क) से (त) का इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना है, जिससे खण्ड (क) से (त) के अंतर्गत आने वाले विषयों की बाबत संविधान के अन्य उपबंधों से विचलन अनुज्ञात किया जा सके बशर्ते कि उक्त विचलन ऐसे परिमाण का नहीं है, जिससे संविधान के किसी आधारभूत लक्षण को परिवर्तित कर दिया जाता है। अनुच्छेद 371-च के संरक्षण का फायदा उठाने के लिए यह आवश्यक है कि विधि अध्यारोही खण्ड की परिधि पर (अधिरोपित) ऊपर वर्णित परिसीमा से परे न जाए। (पैरा 120)

भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए स्थानों का आरक्षण इसलिए आवश्यक है कि वे अल्पसंख्यक हैं और आरक्षण के अभाव में उनका विधान-सभा में कोई प्रतिनिधित्व नहीं भी हो सकता है। नेपाली मूल के सिक्किमी लोग सिक्किम में बहुमत में हैं और स्वयं अपनी निर्वाचन-शक्ति के आधार पर वे अनारक्षित स्थानों पर विधान-सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, भूटिया और लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों की एक सुभिन्न संस्कृति और परम्परा है, जो नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों की संस्कृति और परम्परा से भिन्न है। इस अंतर को ध्यान में रखते हुए, भूटिया और लेप्चा लोगों को संविधान के अनुच्छेद 342 के अधीन अनुसूचित जनजातियों के रूप में घोषित किया गया है। न्यायालय में उक्त घोषणा को प्रश्नगत नहीं किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 332 में अनुसूचित जनजातियों के लिए राज्य की विधान-सभा में स्थानों के आरक्षण का अभिव्यक्त उपबंध किया गया है। ऐसे आरक्षण को, जिसे संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से अनुज्ञात किया गया है, संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन गारण्टीकृत समता के अधिकार के वंचन के अधिकार पर चुनौती नहीं दी जा सकती। (पैरा 123)

भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए स्थानों के आरक्षण की सीमा से संबंधित द्वितीय दलील संविधान के अनुच्छेद 332 (3) के उपबंधों पर आधारित है। अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) में यह अनुध्यात किया गया है कि किसी राज्य की विधान-सभा में अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या का अनुपात, उस विधान-सभा में स्थानों की कुल संख्या से यथाशक्य वही होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या का उस राज्य की कुल जनसंख्या से है। तथापि उक्त उपबंध को अनुच्छेद 371-च के खंड (च) के प्रकाश में देखा जाना है। (पैरा 124)

अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) में "यथाशक्य" पर प्रयुक्त किया गया है। इस पर से यह उपदर्शित होता है कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण के विषय में भी कुछ सीमा तक इस अध्यपेक्षा से विचलन अनुज्ञेय होगा कि किसी राज्य की विधान सभा में अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या का स्थानों की कुल संख्या से वही अनुपात होगा, जो उस राज्य में अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों की संख्या का, जिस राज्य की बाबत स्थान इस प्रकार आरक्षित किए गए हैं, राज्य की कुल जनसंख्या से है। अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के साथ पठित, उक्त अनुच्छेद में अध्यारोही खण्ड द्वारा अनुच्छेद 332(3) में अधिकथित अनुपात से स्थानों के आरक्षण के विषय में विचलन के क्षेत्र को विस्तृत किया गया है। ऐसे विचलन पर अधिरोपित एकमात्र परिसीमा यह है कि वह इस सीमा तक नहीं होना चाहिए कि उसके परिणामस्वरूप स्थिति अनुचित रूप से अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के पक्ष में हो जाए, जिनके लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं, तथा संतुलन बिगड़ जाए, और तद्द्वारा अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक के रूप में संपरिवर्तित हो जाएं। इससे राज्य में विधान-मण्डल का जनतांत्रिक कृत्यकरण प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगा, जो प्रतिनिधायी जनतंत्र का मूल आधार है। 1950 वाले अधिनियम की धारा 7 की उपधारा (1-क) के खण्ड (क) में 32 स्थान वाली विधानसभा में 12 स्थानों के आरक्षण का उपबंध किया गया है, अर्थात् भूटिया-लेप्चा के सिक्किमी लोगों के लिए लगभग 38 प्रतिशत स्थानों की सीमा तक। अतः उक्त उपबंध से अनुच्छेद 371-च (च) के अधीन संसद् को प्रदत्त शक्ति की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं होता है और यह नहीं कहा जा सकता है कि वह असंवैधानिकता के दोष से दूषित है। (पैरा 130)

इससे यह उपदर्शित होता है कि सिक्किम परिषद् में और बाद में सिक्किम विधान-सभा में संघों के लिए एक स्थान का आरक्षण सिक्किम में उस समय मौजूद प्रशासनिक तंत्र के संदर्भ में था, जिसमें संघ परिषद् के विनिश्चयों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। सिक्किम के भारत संघ में नए राज्य के रूप में प्रवेश के पश्चात् उक्त कारण प्रभावी नहीं रह जाता है। अतः संघों के लिए एक स्थान के लिए आरक्षण और केवल संघों के लिए बनाए गए विशेष निर्वाचक-मण्डल के आधार पर उक्त स्थान के लिए निर्वाचन के संबंध में 1958 से 1976 तक सिक्किम में प्रवृत्त पद्धति के चालू रखे जाने को ऐतिहासिक विचारणाओं के आधार पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता है और आक्षेपित उपबंधों से संविधान के अनुच्छेद 15(1) और 325 में अंतर्विष्ट सांविधानिक आदेश का उल्लंघन होता है। (पैरा 140)

अब विचारार्थ अगला प्रश्न यह उद्भूत होता है कि क्या आक्षेपित उपबंधों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 15(1) और 325 के उपबंधों से किया गया विचलन संविधान के अनुच्छेद 371-च द्वारा अनुज्ञात किया गया है। यह पहले ही उपदर्शित किया जा चुका है कि अनुच्छेद 371-च, चाहे उसे अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन के रूप में संविधान में अंतःस्थापित माना जाता है या उन निबंधनों और शर्तों के रूप में माना जाता है, जिन पर सिक्किम अनुच्छेद 2 के अधीन भारत संघ में सम्मिलित किया गया था, संविधान के आधार भूत तत्वों में से किसी भी तत्व के परिवर्तन को अनुज्ञात नहीं करता है। यद्यपि "पंथ-निरपेक्ष" पद, संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा उद्देशिका में उसके अंतःस्थापन से पूर्व, संविधान में नहीं था, किंतु स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान हमारे स्वतंत्रता संघर्ष के नेताओं की प्रतिबद्धता से इस बात के लिए संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहती है कि पंथ-निरपेक्षता (धर्म-निरपेक्षता) संविधान के आधारभूत तत्वों में से एक है। (पैरा 141)

जहां तक अनुच्छेद 15 के खण्ड (1) का संबंध है, खण्ड (3) और (4) में ऐसा एक अभिव्यक्त उपबंध किया गया है, जिसके द्वारा राज्य को व्यक्तियों के कतिपय वर्गों के लिए विशेष उपबंध करने के लिए सशक्त किया गया है। स्वयं संघ अनुच्छेद 15 के खण्ड (3) और (4) की परिधि के अंतर्गत नहीं आते हैं और इसलिए अनुच्छेद 15 के

खण्ड (1) के अल्पीकरण में, उनके पक्ष में कोई विशेष उपबंध अनुज्ञेय नहीं है। अनुच्छेद 325 में भी, उसमें अंतर्विष्ट विशेष निर्वाचक-नामावली के संबंध में प्रतिषेध से कोई विचलन अनुध्यात नहीं किया गया है। यह बात उस पृष्ठभूमि से सही सिद्ध हो जाती है, जिसमें अनुच्छेद 325 संविधान में अंगीकृत किया गया। (पैरा 142)

यह निष्कर्ष निकालने के पश्चात् कि संघ निर्वाचन के लिए पृथक् निर्वाचक-नामावली का उपबंध करने वाले आक्षेपित उपबंध से अनुच्छेद 325 का उल्लंघन होता है और संघों के लिए एक स्थान के आरक्षण से अनुच्छेद 15(1) का उल्लंघन होता है तथा अनुच्छेद 325 और 15(1) संविधान में परिकल्पित धर्म-निरपेक्षता की संकल्पना के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं, इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि क्या अनुच्छेद 371-च द्वारा, सिक्किम के नव-प्रविष्ट (सम्मिलित) राज्य को संविधान लागू करते समय, अनुच्छेद 325 और 15(1) में अंतर्विष्ट सिद्धांत से विचलन अनुज्ञात किया गया है। न्यायालय अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के उपबंधों का इस प्रकार अर्थान्वयन करने में असमर्थ है कि उसके द्वारा ऐसी शक्ति प्रदत्त की गई है। अनुच्छेद 371-च का खण्ड (च) पर, जिसके द्वारा संसद् को सिक्किम की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करने के लिए सिक्किम की विधान-सभा में स्थानों के आरक्षण का उपबंध करने के लिए सशक्त किया गया है, तारीख 8 मई, 1973 के त्रिपक्षीय करार के खण्ड (5) के संदर्भ में विचार किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) में अनुध्यात विभिन्न वर्ग (विभाग) एक ओर भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोग और दूसरी ओर नेपाली मूल के सिक्किमी लोग हैं; तथा उक्त उपबंध इन वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण और रक्षोपाय प्रदान करने के लिए आशयित हैं। न्यायालय के मतानुसार, अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) का, केवल संघों से संरचित (मिल कर बनने वाली) पृथक् निर्वाचक-नामावली के आधार पर संघों के लिए स्थान के आरक्षण और उस स्थान के लिए निर्वाचन को अनुज्ञात करने के अर्थ में, अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता है। (पैरा 150)

अतः यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि धारा 7 की उपधारा (1-क) के खण्ड (ग) और 1950 वाले अधिनियम की धारा 25-क तथा 1951 वाले अधिनियम की धारा 5क की उपधारा (2) के खण्ड (क) में और धारा 5क की उपधारा (2) के खण्ड (ग) में प्रयुक्त "संघों के लिए आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों से भिन्न" शब्दों से संविधान के अनुच्छेद 15(1) और 325 के उपबंधों का उल्लंघन होता है और उन्हें संविधान के अनुच्छेद 371-च द्वारा व्यावृत्ति (संरक्षण) प्रदान नहीं की गई है। तथापि, उक्त उपबंध अन्य उपबंधों से नियोज्य (पृथक्करणीय) हैं, जो 1976 वाले अधिनियम और 1980 वाले अधिनियम द्वारा 1950 वाले अधिनियम और 1951 वाले अधिनियम में अंतःस्थापित किए गए हैं और आक्षेपित उपबंधों का विखण्डन अन्य उपबंधों को प्रभावी बनाने के मार्ग में बाधक नहीं बनता है। (पैरा 151)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1992]	ए० आई० आर० 1992 एस० सी० डब्ल्यू० 2683=ए० आई० आर० 1992 एस० सी० 2219 : **श्रीमती सरोजिनी राम स्वामी** बनाम **भारत संघ;**	114
[1986]	(1986) 478 यू० एस० 221 = लाइयर्स-एडीशन 2 संस्करण 166 : **जापान व्हेलिंग एसोसिएशन** बनाम **अमेरिकन कैटेसियन सोसायटी;**	68
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 149= (1982) 2 एस० सी० आर० 365 : **एस० पी० गुप्त** बनाम **भारत संघ;**	113
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 710=[1982] 2 एस० सी० आर० 272= (1982) क्रि० एल० जे० 340 : **ए० के० राय** बनाम **भारत संघ;**	69,110
[1982]	[1982] 2 उम० नि० प० 1055=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1946 = [1982] 1 एस० सी० आर० 392 : **विनोद कुमार शांतिलाल गोशालिया** बनाम **गंगाधर नरसिंह दास अग्रवाल;**	64
[1977]	[1977] 4 उम० नि० प० 1107= [1978] 1 एस० सी० आर० 1=ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1361 : **राजस्थान राज्य** बनाम **भारत संघ;**	69,112,113
[1976]	[1976] 1 उम० नि० प० 1=ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 2299=[1976] 2 एस० सी० आर० 347 : **श्रीमती इंदिरा गांधी** बनाम **श्री राज नारायण;**	141
[1975]	[1975] 135 सी० एल० आर० 1 (आस): **अटर्नी-जनरल (सी टी एच) एक्स रेल० मैककिनले** बनाम **दि कामनवैल्थ;**	74,128
[1973]	[1973] 2 उम० नि० प० 159=ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 1461=[1973] सप्ली० एस० सी० आर० 1 : **केशवानंद भारती वाला मामला;**	141
[1973]	(1973) 410 यू० एस० 315=35 ला एडी० सेकेंड 320 : **महेन** बनाम **होवेल;**	127

1993(2) eILR(PAT) SC 143

[1971] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 530=
[1971] 3 एस० सी० आर० 9:
माधव राव बनाम **भारत संघ;** 69,111

[1969] (1969) 395 यू० एस० 486=23 ला एडी०
सेकेंड 491:
पावेल बनाम **मेक कारमेक;** 68,109,113

[1967] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 944=
[1967] 2 एस० सी० आर० 109:
मंगल सिंह बनाम **भारत संघ;** 15,70,117

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1179=
[1964] 6 एस० सी० आर० 846:
मध्य प्रदेश राज्य बनाम **भोपाल शूगर इंडस्ट्रीज लि०;** 81

[1964] 377 यू० एस० 533=12 ला एडी० सेकेंड
506, बी०ए०:
रेनोल्ड्स बनाम **एम०ओ० सिम्स;** 73,74,122,127

[1963] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 222:
लक्ष्मण दास बनाम **पंजाब राज्य;** 81

[1962] (1962) 369 यू० एस० 186=7 ला एडी०
सेकेंड 663: 58,108,109,
बेकर बनाम **कार;** 110,113

[1960] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 845=
[1960] 2 एस० सी० आर० 250:
दि बेरूबारी यूनियन एंड एक्सचेंज आफ एनक्लेव वाला मामला; 16

[1954] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 561=
[1955] 1 एस० सी० आर० 568:
मुंबई राज्य बनाम **मुंबई शिक्षा समिति;** 135

[1953] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 384=
[1953] एस० सी० आर० 1184:
नैनसुख दास बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य;** 134

[1953] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 404=
[1954] एस० सी० आर० 30=1953 क्रि०
एल० जे० 1621:
केदार नाथ बाजोरी बनाम **पश्चिम बंगाल राज्य;** 149

[1951] ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 226=
[1951] एस० सी० आर० 525:
मद्रास राज्य बनाम **श्रीमती चंपक दौराइजन;** 136

[1946] ए० आई० आर० 1946 पी० सी०
66=(1946) एफ० सी० आर० 1:
पंजाब प्रांत बनाम **दौलत सिंह;** 135

[1827] 12 वीट 19=6 ला एडी० 537:
मार्टिन बनाम **मोट;** 67

[1803] 1 सी० आर० 5 यू० एस० 137=2 ला एडी०
60:
मारबरी बनाम **मैडिसन;** 67

[1796] 3 डल 3 यू० एस० 199=1 ला एडी० 568:
वेयर बनाम **हिल्टन।** 67

आरम्भिक सिविल रिट अधिकारिता : 1982 का अंतरण मामला (सिविल) सं० 78 और 84.
जिसके साथ 1991 के अंतरण मामला सं० 93 और 94 की भी सुनवाई की गई।

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट याचिकाएं।

उपस्थित पक्षकारों की ओर से सर्वश्री वेषा सारथी, महा न्यायवादी, जी० रामस्वामी, अपर महासालिसिटर, आर० के० जैन, बी०एन० भट्ट, के० लाहिरी, के० पाराशरन्, ए० के० गांगुली, एफ० एस० नारीमन, उदय ललित, ए०सी० मनोज गोयल, के० एम० के० नायर, कैलाश वासुदेव, सुधीर वालिया, मोहित माथुर, सुश्री ए० सुभाषिणी, के० स्वामी, टी०टोपगे रथिन् दास, अजित कुमार सिन्हा, एस० सी० शर्मा, अम्लान घोष, सुश्री जे०एस० वाड, सर्वश्री मायाकृष्णन्, डी०पी० मुखर्जी, जी०एस० चटर्जी और के०एन० भट्ट

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधीश ललित मोहन शर्मा ने दिया।

मु० न्या० शर्मा—इस मामले में उद्भूत होने वाले सांविधानिक महत्व के दो प्रश्न इस प्रकार हैं—(i) क्या किसी राज्य के भारत में पूर्ण विलय के पश्चात् धार्मिक संस्थाओं द्वारा निर्वाचित किए जाने के लिए, धार्मिक संस्थाओं के समूह के प्रतिनिधि के लिए, राज्य विधान-मण्डल में कोई स्थान आरक्षित किया जा सकता है; और (ii) क्या किसी विशेष जनजाति की जनसंख्या के आधिक्य में उस विशेष जनजाति के पक्ष में स्थान आरक्षित किए जा सकते हैं। उक्त दोनों प्रश्नों के लिए मेरा उत्तर नकारात्मक है।

2. ये मामले सिक्किम की विधानसभा के गठन से संबंधित हैं, जिसका वर्ष 1975 में भारत में विलय हुआ। ये मामले सिक्किम उच्च न्यायालय के समक्ष संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट याचिकाओं के रूप में संस्थित किए गए और बाद में इस न्यायालय को अंतरित कर दिए गए हैं। मुख्य मामला 1980 की रिट याचिका सं० 4 है, जिसे याची आर० सी० पौड्याल द्वारा स्वयं इस न्यायालय में अंतरण आवेदन फाइल किए जाने के पश्चात् 1982 के अंतरण मामला सं० 78 के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया गया और उन्होंने इस मामले का स्वयं संचालन किया, तथा उन्हें इस निर्णय में याची या रिट याची के रूप में निर्दिष्ट किया जाएगा। मामले की सुनवाई के अनुक्रम में, श्री आर० के० जैन ने न्यायमित्र के रूप में इस न्यायालय की सहायता की और उनकी ओर से रिट याचिका की पैरवी की। 1982 का अंतरण मामला सं० 84 उच्च न्यायालय में 1980 की रिट याचिका सं० 12 के रूप में सोमनाथ पौड्याल द्वारा फाइल

किया गया था, जिसमें वही आधार लिया गया था, जो 1980 की रिट याचिका सं० 4 में लिया गया था। तृतीय मामला नंदू थापा द्वारा फाइल की गई 1990 की रिट याचिका सं० 15 है और उसमें भी आक्षेपित आरक्षणों को चुनौती दी गई है तथा वह 1991 का अंतरण मामला सं० 93 है। किंतु, सुनवाई के दौरान उसके काउंसेल श्री के० एन० भट्ट द्वारा लिया गया आधार मुख्य रिट याची के पक्षकथन से सारभूत रूप से भिन्न था और उसने मुकदमा लड़ने वाले प्रत्यर्थियों के कुछ तर्कों का समर्थन किया। उच्च न्यायालय की रिट याचिका सं० 16/1990 (1991 का अंतरण मामला सं० 94) में किया गया पक्षकथन 1991 के अंतरण मामला सं० 93 में किए गए पक्षकथन के समान है। रिट याचिका का मुख्यतः सिक्किम राज्य द्वारा प्रतिवाद किया गया है, जिसका प्रतिनिधित्व श्री के० पाराशरन् द्वारा किया गया है और भारत संघ का प्रतिनिधित्व विद्वान् महान्यायवादी द्वारा किया गया है तथा कुछ पक्षकारों की ओर से श्री एफ० एस० नारीमन हाजिर हुए।

3. आक्षेपित आरक्षणों से संबंधित सुसंगत उपबंध वे उपबंध हैं, जो संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा संविधान में वर्ष 1975 में अंतःस्थापित अनुच्छेद 371-च(च) के आधार पर तात्पर्यतः किए गए लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 (1980 का अधिनियम सं० 8) द्वारा और संसदीय तथा विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र परिसीमन आदेश, 1976 में किए गए पारिणामिक संशोधनों द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 और 1951 में सम्मिलित किए गए हैं। रिट याची ने यह दलील दी है कि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के आक्षेपित उपबंध संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य हैं और उन्हें अनुच्छेद 371-च (च) द्वारा व्यावृत्ति (संरक्षण) प्रदान नहीं की जा सकती। आनुकल्पिक रूप से यह तर्क दिया गया है कि यदि अनुच्छेद 371-च (च) के उपबंधों का वैसा निर्वचन किया जाता है, जैसा कि प्रत्यर्थियों की ओर से सुझाया गया है, तो उससे संविधान की आधारभूत विशेषताओं का उल्लंघन होगा और इसलिए वह स्वयं अविधिमान्य हो जाएगा। बहस के दौरान एक अन्य आधार पर भी बल दिया गया और वह यह था कि प्रत्यर्थियों द्वारा किए गए अधिनियम और संविधान के निर्वचन को स्वीकार कर लेने पर भी परिस्थितियों द्वारा विधानसभा में आक्षेपित आरक्षण न्यायोचित सिद्ध नहीं होते हैं और इसलिए उन्हें विखण्डित किया जाना उचित होगा।

4. प्रत्यर्थियों का, जो रिट याची के आधार को चुनौती दे रहे हैं, यह पक्षकथन है कि सांविधानिक संशोधन, जिसके द्वारा अनुच्छेद 371-च (च) लाया गया है, और लोक प्रतिनिधित्व के सुसंगत संशोधित उपबंध वैध और विधिमान्य हैं, तथा उन सभी सुसंगत परिस्थितियों को देखते हुए, जिनमें सिक्किम भारत संघ का एक भाग बना, याची की रिट याचिका खारिज किए जाने योग्य है।

5. मामले में उद्भूत होने वाले मुद्दों और पक्षकारों की ओर से दिए गए तर्कों का विवेचन करने के लिए, भारत में सिक्किम के विलय से पूर्व और उसके पश्चात् की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और सांविधानिक स्थिति पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक होगा। ब्रिटिश काल में सिक्किम, ब्रिटिश सर्वोपरिता के अधीन, चोग्याल नामक आनुवंशिक राजा (शासक) के अधीन राज्य (शाही रियासत) था। चोग्याल, जिन्हें महाराजा भी कहा जाता था, नरेश-मण्डल के सदस्य थे, जो 15 तोपों की सलामी (लेने) के हकदार थे। भारत शासन अधिनियम, 1935 के उपबंध लागू होते थे और इस प्रकार सिक्किम का स्वयं अपना संप्रभुता का कोई लक्षण नहीं था। वर्ष 1947 में भारत की स्वतंत्रता के अवसर पर, भारत में विलय हेतु सिक्किम में सार्वजनिक मांग उठी थी, जिसका शासकों द्वारा विरोध किया गया। प्रत्यर्थी सं० 1 भारत संघ के प्रतिशपथपत्र के पैरा 3(v) में किया गया कथन, जो गृह मंत्रालय के उपसचिव द्वारा सह-शपथ किया गया है, इस संबंध में काफी प्रकाश डालता है। उसमें, अन्य बातों के साथ-साथ, यह कहा गया है कि सिक्किम के लोगों द्वारा सशक्त और स्पष्ट रूप से यह भावना व्यक्त की गई थी सिक्किम के भारत के साथ संबंध और निकट के हों और उसमें वास्तविक जनतांत्रिक संस्थाओं का विकास किया जाए, जिसके कारण सिक्किम के भारत में विलय की मांग करते हुए बड़े पैमाने पर आन्दोलन हुए। तथापि, भारत सरकार सिक्किम की प्रास्थिति (हैसियत) में तुरन्त परिवर्तन करने के विचार के पक्ष में नहीं थी और इसलिए सिक्किम और भारत सरकार के बीच एक संधि मात्र की गई, जिसके अधीन पश्चात्कथित ने तारीख 3 दिसंबर, 1950 के दस्तावेज में विवरणित निबंधनों पर सिक्किम की प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों और संचार की बाबत उत्तरदायित्व संभाला। तत्पश्चात् चोग्याल ने निर्वाचनों का उपबंध करके लोगों द्वारा सत्ता में भागीदारी किए जाने की दिशा में अनेक कदम उठाए। उक्त सार्वजनिक मांग ने हिंसक प्रदर्शनों का रूप धारण कर लिया, जिसके कारण विधि और व्यवस्था की स्थिति पूर्णतः बिगड़ गई, जिसने तत्कालीन चोग्याल को भारत सरकार से सिक्किम में विधि और व्यवस्था की स्थापना (कायम रखने) और सुशासन (अच्छे प्रशासन) का उत्तर दायित्व अपने हाथ में लेने के लिए विवश किया। अंततः तारीख 8 मई, 1973 को एक प्ररूपिक करार पर हस्ताक्षर किए गए, जिसके भारत सरकार, तत्कालीन चोग्याल और सिक्किम के लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनैतिक दलों के नेता पक्षकार थे। मैं इस करार के प्रति बाद में विस्तार से निर्देश करूंगा किंतु इस प्रक्रम पर भी करार के एक खण्ड का परिशीलन करना उपयोगी होगा, जो इस प्रकार है—

> "(1) तीनों पक्षकार, एतद्द्वारा सिक्किम के लोगों के आधारभूत मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं को मान्यता प्रदान करते हैं और उन्हें सुनिश्चित करने का परिवचन करते (जिम्मा लेते) हैं। सिक्किम के लोग 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत को प्रभावी बनाने के लिए वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन के अधिकार का उपभोग करेंगे।"
>
> (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है।)

6. सिक्किम की जनसंख्या में मुख्यतः लेप्चा, भूटिया और नेपाली के रूप में ज्ञात तीन जातीय समूह हैं। भारत से भी लोग सिक्किम जाते रहे हैं और वहां बसते रहे हैं। किन्तु वर्ष 1973 से पूर्व उनकी संख्या कम थी। यद्यपि नेपालियों की जनसंख्या लेप्चा और भूटिया लोगों की तुलना में कहीं अधिक रही है, तथापि राजनीति (राज्य व्यवस्था) में उनका प्रभाव काफी कम धा क्योंकि चोग्याल भूटिया थे और सदा अपनी पकड़ बनाए रखने के उद्देश्य से, उनकी शेष लोगों के विरुद्ध लेप्चा और भूटिया लोगों को एक (संगठित) रखने की बराबर नीतिं बनी रही। ब्रिटिश सर्वोपरिता के

1993(2) eILR(PAT) SC 143

व्यपगन पर और उसके स्थान पर भारत के संरक्षित राज्य के प्रतिस्थापन पर, चोग्याल ने लोक भावना को शांत करने के प्रयास में एक उद्घोषणा जारी की, जिसके द्वारा, 6 स्थान भूटिया और लेप्चा लोगों को और 6 स्थान नेपाली लोगों को आबंटित करते हुए, जिन सबका निर्वाचन 4 प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित मतदाताओं द्वारा किया जाना था, 12 सदस्यों की राज्यपरिषद् की स्थापना का उपबंध किया गया। कुछ मास पश्चात् ही तारीख 23 मार्च, 1953 को दूसरी उद्घोषणा जारी की गई, जिसमें 6 और सदस्यों के लिए स्थान जोड़े गए, जिनमें से एक महाराजा, अर्थात् चोग्याल द्वारा परिषद् के अध्यक्ष के रूप में नामनिर्देशित किया जाना था। इस प्रकार कुल संख्या 18 हो गई। तथापि महाराजा ने परिषद् द्वारा किए जाने वाले किसी भी विनिश्चय की बाबत अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करने और स्वयं अपने विनिश्चय द्वारा उसे प्रतिस्थापित करने का अपना अधिकार आरक्षित रखा। पुनः, एक अन्य उद्घोषणा द्वारा भी, जो वर्ष 1957 में जारी की गई, भूटिया-लेप्चा लोगों और नैपाली लोगों के लिए 6-6 स्थानों की बराबरी बनाई रखी गई। तारीख 16 मार्च, 1958 की अगली उद्घोषणा द्वारा, परिषद् में दो स्थान और जोड़े गए, एक भिक्षुओं द्वारा जो लामा हैं, चलाए जाने वाले धार्मिक बौद्ध मठों के लिए आरक्षित संघ स्थान के रूप में वर्णित है और दूसरा साधारण स्थान के रूप में घोषित किया गया है। इस प्रकार, सर्वप्रथम वर्ष 1958 में चोग्याल ने, साधारण स्थान सृजित करके, आप्रवासियों की उपस्थिति की अवेक्षा की, जो न तो भूटिया-लेप्चा थे और न नैपाली ही, बल्कि वे अधिकांशतः भारतीय थे। उन्होंने परिषद् में लामाओं को भी सम्मिलित किया, क्योंकि वह अपने लिए उनके समर्थन के बारे में आश्वस्त थे, जैसा कि बाद में देखा जाएगा। उद्घोषणा से चोग्याल के निजी सचिव का टिप्पण (भी) संलग्न था, जिसके प्रति प्रत्यर्थियों ने आक्षेपित आरक्षणों के समर्थन में अपने तर्कों में निर्देश किया है। उक्त टिप्पण तीन उप-पैराओं में है, जो संघ स्थान, साधारण स्थान और भूटिया-लैप्चा तथा नैपाली लोगों के बीच समानता के प्रश्न के संबंध में है। प्रथम उप-पैरा (क) में यह उल्लेख किया गया है कि संघ की सिक्किम के सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका थी और उसने विगतकाल में परिषद् द्वारा किए गए विनिश्चय में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उप-पैरा (ख) में यह कहा गया है कि राजनीतिक दल परिषद् में कुल स्थानों के एक-तिहाई भाग की मांग कर रहे हैं, जिसे उन व्यक्तियों को उपलब्ध कराया जाना है, जिन्होंने सिक्किम में अपना आवास स्थापित कर लिया है यद्यपि वे भूटिया-लेप्चा और नैपाली प्रवर्गों में से किसी प्रवर्ग में नहीं आते हैं और महाराजा ने आंशिक स्वीकृति (रियायत) द्वारा एक स्थान सामान्य लोगों को दिया था। अंतिम उप-पैरा में महाराजा की यह इच्छा घोषित की गई है कि सिक्किम सरकार को भूटिया-लैप्चा और नैपाली, दोनों ही समूहों द्वारा समानता के स्तर पर चलाया जाना चाहिए और एक समुदाय दूसरे समुदाय पर अपना आधिपत्य नहीं जमाएगा और न एक दूसरे के अधिकारों का अतिक्रमण ही करेगा।

7. तारीख 21 दिसम्बर, 1966 की एक पश्चात्वर्ती उद्घोषणा द्वारा, सिक्किम परिषद् पुनःगठित की गई जिसकी कुल सदस्य संख्या 24 थी, किन्तु जिसमें से 14 सदस्यों को, 7 स्थान भूटिया-लेप्चा लोगों को और 7 स्थान नेपाली लोगों को आरक्षित रखते हुये, प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचन किया जाना था; एक स्थान अनुसूचित जाति द्वारा, एक सौंग लोगों द्वारा और एक साधारण स्थान के रूप में भरा जाना था। संघ स्थान को बनाए रखा गया, जिसे संघों के निर्वाचन मंडल द्वारा निर्वाचन से भरा जाना था और शेष 6 स्थानों पर पूर्ववत् चोग्याल द्वारा नामनिर्देशन किया जाना था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पश्चात् वर्ष 1969 में वैसी ही एक और उद्घोषणा जारी की गई, जो पक्षकारों द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं की गई है।

8. सिक्किम परिषद् की स्थापना के बावजूद, शासन करने की अंतिम शक्ति चोग्याल के हाथ में केन्द्रित रही, जिन्होंने, परिषद् में 6 सदस्यों को नामनिर्देशित करने का अधिकार रखने के अतिरिक्त, किसी भी विषय में निषेधाधिकार का प्रयोग करने और स्वयं अंतिम विनिश्चय करने का प्राधिकार भी अपने लिये आरक्षित रखा। किन्तु लोग इस व्यवस्था से संतुष्ट नहीं रह सके और जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, व्यापक स्तर पर हिंसक प्रदर्शन हुए और विधि और व्यवस्था की स्थिति पूर्णतः बिगड़ गई, जिसके कारण चोग्याल स्थिति को नियंत्रण में करने के लिये भारत सरकार का आश्रय लेने के लिये विवश हो गये। तीनों पक्षकारों, अर्थात् चोग्याल सिक्किम के लोगों, जिनका प्रतिनिधित्व विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं द्वारा किया गया, और भारत सरकार अंततः तारीख 8 मई, 1973 के त्रिपक्षीय करार में सम्मिलित निबंधनों पर सहमति व्यक्त करने में समर्थ हुए और चोग्याल के प्राधिकार को काफी कम कर दिया गया। करार की उद्देशिका में विनिर्दिष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया कि सिक्किम के लोगों ने, "निर्वाचन की ऐसी पद्धति को अंगीकृत करने का विनिश्चय किया था, जो वयस्क मताधिकार पर आधारित होगा और जो 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत के आधार पर सभी वर्गों के लोगों को सामर्थ्यपूर्ण प्रतिनिधित्व प्रदान करेगी।" (बल देने के लिये रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है।) यह भी कहा गया कि इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए चोग्याल और जनता के प्रतिनिधियों ने भारत सरकार से आवश्यक कदम उठाने का अनुरोध किया था। प्रथम पैरा में, जो आधारभूत अधिकारों के संबंध में है, यह घोषित किया गया कि सिक्किम के लोगों को 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत को प्रभावी बनाने के लिए, वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन का अधिकार प्राप्त होगा। इस करार का एक अन्य उपबंध, जो वर्तमान मामले में अंतर्वलित विवाद्यकों के विनिश्चय के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है, पांचवें पैरा में किया गया है, जो इस प्रकार है—

> "निर्वाचनों की पद्धति इस प्रकार तैयार की जाएगी जिससे विधान सभा में जनसंख्या के विभिन्न वर्गों को पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व दिया जा सके। विधान सभा और कार्यकारी परिषद् का आकार और संरचना ऐसी होगी, जैसी समय-समय पर विहित की जाए, और यह सुनिश्चित करने की सावधानी बरती जाएगी कि जनसंख्या के किसी एक विशेष वर्ग को मुख्यतः अपने जातीय मूल के कारण प्रबल (आधिपत्य की) स्थिति प्राप्त न हो और सिक्किम भूटिया-लेप्चा मूल के और नेपाली मूल के लोगों के, जिनमें सौंग और अनुसूचित जाति मूल के लोग भी सम्मिलित हैं, अधिकारों और हितों को पूर्णतः संरक्षण प्रदान किया जाता है।"

प्रत्यर्थियों की ओर से अपने इस आधार के समर्थन में उपर्युक्त पैराग्राफों का सशक्त अवलंब लिया गया है कि भूटिया-लेप्चा लोग, जो राज्य की कुल जनसंख्या के एक-चौथाई भाग से भी कम हैं, आक्षेपित उपबंधों द्वारा यथाअनुध्यात्, परिषद् में लगभग 40 प्रतिशत स्थानों के लिये हकदार हैं।

9. अगली उद्घोषणा, जो इस संबंध में सुसंगत है, तारीख 5 फरवरी, 1974 को जारी की गई और उसे सिक्किम नागरिक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1974 का नाम दिया गया। उसमें सिक्किम विधान सभा बनाए जाने का निर्देश किया गया, जिसमें 32 निर्वाचित सदस्य होंगे—31 सदस्यों का 31 प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचन किया जाना था और एक निर्वाचन-क्षेत्र को संघों के निर्वाचक मंडल द्वारा एक सदस्य का निर्वाचन करता था। 32 स्थानों का विवरण धारा 3 में दिया गया है, जिसमें यह निदेश किया गया है कि 16 निर्वाचन क्षेत्रों को, जिनमें एक संघ के लिये आरक्षित स्थान भी सम्मिलित था, भूटिया-लेप्चा लोगों के लिये आरक्षित रखा जाना था और शेष 16 स्थानों को नेपाली लोगों के लिये आरक्षित रखा जाना था, जिनमें से एक स्थान सौंग लोगों के लिये दूसरा अनुसूचित जाति के नेपालियों के लिये आरक्षित था। इसके परिणामस्वरूप, साधारण स्थान समाप्त हो गया। उसी वर्ष जुलाई मास में नव गठित सिक्किम विधान सभा द्वारा एक और अधिनियम पारित किया गया, जिसमें एक बार पुनः लोगों के 'एक व्यक्ति, एक मत' के आधार पर विधान सभा के लिये निर्वाचन कराने के विनिश्चय पर बल दिया गया, अर्थात् ऐसा प्रत्येक व्यक्ति, जो विहित तारीख को सिक्किम का नागरिक था और विहित आयु से कम आयु का नहीं था तथा जो अधिनियम के अधीन अन्यथा निरर्हित नहीं था। किसी भावी निर्वाचन में मतदाता के रूप में रजिस्ट्रीकृत किये जाने के लिये हकदार था।

10. विधानसभा में, जो 1974 वाले अधिनियम के अधीन स्थापित की गई, पहले परिषद् को प्राप्त शक्तियों की तुलना में अधिक शक्तियां निहित थीं और चोग्याल तथा जनता के बीच प्रभावी शक्ति के लिये लड़ाई निर्णयक दौर में पहुंच गई। मुख्य दल, सिक्किम कांग्रेस ने, जो लोगों का प्रतिनिधित्व करता था, करार के अनुसरण में आयोजित निर्वाचन में 32 स्थान प्राप्त किये। इस संबंध में यह बात महत्वपूर्ण है कि उसके चुनाव घोषणापत्र में यह कहा गया था—

> "हम भी उन्हीं जनतांत्रिक अधिकारों और संस्थाओं को प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं, जो भारत के लोगों को गत 25 वर्ष से प्राप्त हैं।"

अंततः सिक्किम सरकार द्वारा एक विशेष जनमत संग्रह आयोजित किया गया और लोगों ने स्पष्ट रूप से यह अधिमत व्यक्त किया कि वे सिक्किम के भारत में सम्मिलित होने और भारत संघ का एक भाग होने के पक्ष में थे। इस घटना-क्रम विनिश्चय के अनुसरण में, संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा भारत के संविधान में संशोधन किया गया, जिसके द्वारा धारा 2-क अंतः स्थापित की गई, जिसके द्वारा सिक्किम को कतिपय निबंधनों और शर्तों पर भारत संघ से सहयुक्त किया गया। उक्त संशोधन फरवरी, 1975 को प्रवृत्त हुआ सिक्किम विधान सभा ने तारीख 10 अप्रैल, 1975 को एक अन्य महत्वपूर्ण संकल्प पारित किया, जिसके द्वारा चोग्याल का पद (संस्था) समाप्त कर दिया गया और यह घोषित किया गया कि अब से सिक्किम भारत का एक संघटक एकक होगा, जिसे जनतांत्रिक और पूर्णतः उत्तरदायी सरकार प्राप्त होगी। संकल्प में भारत सरकार से आवश्यक कार्यवाही करने का अनुरोध किया गया। तदनुसार, संविधान में संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा एक और संशोधन किया गया, जो मई, 1975 में प्रभावी हुआ। इस सांविधानिक संशोधन के परिणामस्वरूप सिक्किम का भारत संघ में पूर्ण विलय हो गया।

11. संविधान के 35वें संशोधन द्वारा सिक्किम को, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, दसवीं अनुसूची के रूप में जोड़ी गई अनुसूची में पृथक् रूप से उपवर्णित निबंधनों और शर्तों पर अनुसूची 2-क के अंतः स्थापन द्वारा भारत संघ के साथ सहबद्ध मात्र किया गया था। अनुच्छेद 80 और 81 में भी कुछ संशोधन किये गये थे। संविधान के 36वें संशोधन द्वारा, शीर्षक "राज्य" के अधीन, संविधान की प्रथम अनुसूची में प्रविष्टि 22 के रूप में सिक्किम को जोड़ कर, सिक्किम का भारत संघ में पूर्ण विलय कर दिया गया। इसके अतिरिक्त, नए सिरे से जोड़े गये अनुच्छेद 371-च में कुछ विशेष उपबंध भी किये गये। प्रत्यर्थियों की ओर से अनुच्छेद-371च के खंड (च) के उपबंधों का इस रूप में सशक्त अवलंब लिया गया है कि उनके द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियमों में आक्षेपित संशोधित उपबंधों को प्राधिकृत किया गया है। अनुच्छेद 2-क, 10वीं अनुसूची और संविधान के कुछ अन्य उपबंधों का लोप कर दिया गया (को छोड़ दिया गया)।

12. वर्ष 1978 में भूटिया-लेप्चा लोगों को भारत के संविधान के अनुच्छेद 342 के खंड (1) के अधीन जारी किये गये राष्ट्रपतीय आदेश द्वारा सिक्किम राज्य के संबंध में अनुसूचित जनजातियों के रूप में घोषित किया गया, और इस प्रकार वे अनुच्छेद 332 के अनुसार राज्य विधानमंडल के स्थानों के आरक्षण की प्रसुविधाओं (फायदों) के लिये हकदार हो गये। 1976 वाले अधिनियम सं० 10 द्वारा और 1980 के अधिनियम सं० 8 द्वारा दो बार लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में राज्य विधान मंडल में पारिणामिक आरक्षण किये गये किंतु वे अनुच्छेद 332 के खंड (3) के अनुरूप नहीं थे, जो इस प्रकार है—

> "332. राज्यों की विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये स्थानों का आरक्षण—
>
> (1)..... और
>
> (2) .....
>
> (3) खंड (1) के अधीन किसी राज्य की विधान सभा में अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के लिये आरक्षित स्थानों की संख्या का अनुपात, उस विधान सभा में स्थानों की कुल संख्या से यथाशक्य वही होगा जो, यथास्थिति, उस राज्य की अनुसूचित जातियों की अथवा उस राज्य की या उस राज्य के भाग की अनुसूचित जनजातियों की, जिनके संबंध में स्थान इस प्रकार आरक्षित है, जनसंख्या का अनुपात उस राज्य की कुल जनसंख्या से है।"

1993(2) eILR(PAT) SC 143

सदन में कुल 32 स्थानों में से, लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 7 की नव अंतःस्थापित उपधारा (1 क) के क्रमशः खंड (क) और (ग) द्वारा 12 स्थान भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किम के लोगों के लिये आरक्षित किये गये हैं और एक स्थान संघों के लिये। आगे संघ स्थान के बारे में, 1950 वाले अधिनियम की धारा 25-क में यह उपबंध किया गया है कि राज्य में एक संघ निर्वाचन-क्षेत्र होगा और केवल अप्रैल, 1974 में सिक्किम में आयोजित निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिये मान्यता प्राप्त मठों के संघ ही निर्वाचक- नामावली में रजिस्ट्रीकृत किएं जाने के लिए हकदार होंगे और उक्त निर्वाचक-नामावली ऐसी रीति में तैयार और पुनरीक्षित की जाएगी, जिसके बारे में निर्वाचन आयोग द्वारा निदेश किया जाए। परिणामतः लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में धारा 5क को अतःस्थापित करके संशोधन किए गए। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र और स्थानों के आरक्षण की सीमा के बारे में आरम्भ में यह निदेश किया गया कि वह संविधान के 36वें संशोधन के अधीन विलय से तुरन्त पूर्व की स्थिति के अनुसार होगी, और इस संबंध में संसदीय और विधान सभा निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन आदेश, 1976 में पश्चात्वर्ती संशोधन किए गए। धारा 7क की उपधारा (3) के संशोधित उपबंधों में (अरुणाचल प्रदेश पर चर्चा के अतिरिक्त) इस विषय की चर्चा की गई थी। रिट याची द्वारा इन्हीं विशेष उपबंधों को विभिन्न आधारों पर चुनौती दी गई है।

13. प्रत्यर्थियों की ओर से उठाया गया प्रथम आक्षेप रिट याचिकाओं के चलने योग्य होने के संबंध में है और उसके लिए यह आधार लिया गया है कि याची द्वारा उठाया गया विवाद राजनीतिक प्रकृति का है और विवाद्यक न्याय नहीं हैं। उक्त तर्क को इस प्रकार आगे बढ़ाया गया है। नए राज्य-क्षेत्र अर्जित करना प्रभुसत्ता का अंतर्निहित लक्षण है और इस कार्य को विजय, संधि द्वारा या अन्यथा ऐसी शर्तों पर किया जा सकता है, जिन्हें संप्रभु राज्य आवश्यक समझे। उससे संबंधित कोई भी प्रश्न पूर्णतः राजनीतिक क्षेत्र से संबंध रखता है और वह न्यायालय की अधिकारिता के अध्यधीन नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 2 और 4 के प्रति निर्देश करते हुए, यह तर्क दिया गया है कि भारत संघ में प्रवेश (विलय) सांविधानिक संशोधन के बिना अनुज्ञेय है और ऐसे प्रवेश (विलय) के निबंधनों और शर्तों की न्यायालयों द्वारा संवीक्षा नहीं की जा सकती है। अतः अनुच्छेद 371-च को उचित महत्व दिया जाना चाहिए और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियमों के आक्षेपित संशोधनों को अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के उपबंधों के कारण वैध रूप से मान्य माना जाना चाहिए। मुझे खेद है कि इस तर्क में अतिरिक्त राज्य क्षेत्र के आरम्भिक अर्जन और उसके अन्य राज्यों के समान भारत संघ के पूर्ण राज्य के बारे में प्रवेश (विलय) के बीच महत्वपूर्ण अंतर को ध्यान में नहीं रखा गया है।

14. किसी राज्य के लिए विशेष उपबंध, निश्चय ही, संविधान में संशोधन द्वारा किए जा सकते हैं, जैसा कि अनुच्छेद 371-क, 371-ख और 371-ग आदि द्वारा स्पष्ट है, किन्तु संविधान की आधारभूत विशेषताओं को अल्पीकृत करते हुए ऐसा करना अनुज्ञेय नहीं है। जहां तक नए राज्य-क्षेत्र अर्जित करने की संप्रभुता की शक्ति का संबंध है, उस संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता है। यह शक्ति अंतर्निहित है अतः संविधान में उसे अभिव्यक्त शब्दों में वर्णित करना आवश्यक नहीं समझा गया। यह भी सच है कि यदि संधि द्वारा या किसी करार के अधीन नए राज्य-क्षेत्रों का अर्जन किया जाता है, तो न्यायालयों द्वारा उसकी संवीक्षा नहीं की जा सकती। तथापि उस दशा में स्थिति पूर्णतः भिन्न होगी, यदि नए राज्य-क्षेत्र को, उसे वही प्रास्थिति प्रदान करके जो भारत के संविधान के अधीन वर्तमान राज्य को प्राप्त है, भारत का भाग बना लिया जाता है। ऐसे विलय की प्रक्रिया संविधान के अधीन होनी है। इस परिणाम को प्राप्त करने के लिए अन्य कोई प्रक्रिया अंगीकृत नहीं की जा सकती है और जब यह कार्य आरम्भ किया जाता है, तो संविधान के अनुरूप विहित प्रक्रिया अंगीकृत करने के सिवाय, अन्य कोई विकल्प नहीं है। इस प्रक्रम पर अंगीकृत पद्धति की विधिमान्यता पर विचार करने के लिए न्यायालय की अधिकारिता को अपवर्जित नहीं किया जा सकता है।

15. जहां तक वर्तमान मामले का संबंध है, इस विनिश्चय में किसी प्रकार के संदेश की गुंजाइश नहीं है कि जब संविधान का 36वां संशोधन किया गया जिसके अधीन सिक्किम अन्य राज्यों के समान ही भारत का पूर्ण राज्य बन गया, (तब) संविधान में संशोधन की शक्ति का अवलंब लिया गया, और ऐसा केवल संविधान की आधारभूत विशेषताओं के अनुरूप ही किया गया। जैसा कि पहले से ही उल्लेख किया जा चुका है, जब संविधान के 35वें संशोधन के परिणामस्वरूप सिक्किम भारत के साथ सहबद्ध हुआ, तब वह भारत संघ का राज्य नहीं हुआ था। सिक्किम को दसवीं अनुसूची के साथ पठित, अनुच्छेद 2-क द्वारा एक विशेष प्रास्थिति प्रदत्त की गई किंतु प्रथम अनुसूची में राज्यों की सूची में संशोधन किए बिना। यद्यपि उस समय सिक्किम को इस प्रकार प्रदत्त प्रास्थिति का सहबद्ध राज्य के रूप में उल्लेख किया गया था, तथापि उसे केवल भारत के संरक्षित राज्य के रूप में ही नहीं माना जा सकता था। पूर्वतर संधियों के अधीन संरक्षित राज्य की स्थिति पहले ही अस्तित्व में थी और दसवीं अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 2-क द्वारा उससे अधिक कुछ चीज प्राप्त की गई। तथापि यह स्थिति राज्य से कम थी। परिणामतः सिक्किम को भारत के संविधान के अधीन उपलब्ध सभी प्रसुविधाएं प्राप्त नहीं थीं। 36वें संशोधन द्वारा सिक्किम की प्रास्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। उसे किसी संकोच या शर्त के बिना, प्रथम अनुसूची में राज्यों की सूची में 22वीं प्रविष्टि के रूप में सम्मिलित किया गया। अनुच्छेद 2-क, दसवीं अनुसूची और 35वें संशोधन द्वारा संविधान में सम्मिलित अन्य सम्बद्ध उपबंधों का संविधान से लोप कर दिया गया। इस प्रकार 36वें संशोधन के परिणामस्वरूप सिक्किम किसी अन्य राज्य के समान ही पूर्ण राज्य हो गया। इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में विचार करने पर, रिट याचिकाओं के चलने योग्य होने के बारे में उठाया गया आक्षेप स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, रिट याचियों द्वारा दी गई चुनौती 1980 के केन्द्रीय अधिनियम सं० 8 द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियमों में किए गए संशोधनों के संबंध में है कि वे असंवैधानिक हैं और उन्हें अनुच्छेद 371-च(च) का संरक्षण प्राप्त नहीं है और पुनः इस मुद्दे का विनिश्चय न्यायालय द्वारा किया जाना है। यदि यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) द्वारा ऐसे संशोधनों को अनुज्ञात किया गया है, तो इस अगले प्रश्न पर विचार किया जाना होगा कि क्या स्वयं खण्ड (च) से संविधान के आधारभूत तत्वों का उल्लंघन होता है। मेरे मतानुसार, इस स्थिति का

21—251 Law & Justice/2001.

मंगल सिंह बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में इस न्यायालय के संविधान पीठ द्वारा समाधान कर दिया गया प्रतीत होता है:—

> "अतः अनुच्छेद 2 और 3 में निर्दिष्ट विधि द्वारा संविधान की प्रथम अनुसूची में जिसमें राज्यों के नाम और उनके राज्यक्षेत्रों का वर्णन दिया गया है, तथा चौथी अनुसूची में भी, परिवर्तन या संशोधन किया जा सकता है, जिसमें संघ की संसद् में राज्य-सभा में राज्यों को स्थान आबंटित किए गए हैं....। वह शक्ति, जो अनुच्छेद 2 और 3 द्वारा संसद् में विनिहित की गई है, नए राज्यों का विलय, स्थापना या गठन की शक्ति है, जो संविधान द्वारा परिकल्पित/जनतांत्रिक प्रतिमान के अनुरूप हों; और वह शक्ति, जिसका संसद विधि द्वारा प्रयोग करेगी, संविधान द्वारा यथाअनुध्यात, राज्य के विलय, स्थापना या गठन की पूरक, आनुषंगिक या पारिणामिक शक्ति है और वह सांविधानिक सिक्किम पर अध्यारोही प्रभाव रखने की शक्ति नहीं है। (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

16. इस स्थल पर **दि बेरूबारी यूनियन एंड एक्सचेंज ऑफ एनक्लेव**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के 8 विद्वान् न्यायाधीशों के न्यायपीठ की ओर से न्या० गजेन्द्रगडकर की ओर से की गई अनेक मताभिव्यक्तियों के प्रति भी निर्देश करना काफी उपयोगी होगा, यद्यपि उक्त मामले के तथ्य हमारे समक्ष वाले मामले के तथ्यों के समान नहीं हैं। संप्रभु राज्य की संधि करने की शक्ति पर विचार करते समय, विद्वान् न्यायाधीश ने रिपोर्ट के पृष्ठ 283-284 पर यह मत व्यक्त किया कि संप्रभुता का यह एक आवश्यक लक्षण है कि राज्य विदेशी राज्य-क्षेत्र अर्जित कर सकता है और आवश्यकता की स्थिति में अपने राज्यक्षेत्र के कुछ भाग विदेशी राज्य के पक्ष में समर्पित भी कर सकता है, किन्तु यह शक्ति निस्संदेह उन परिसीमाओं के अधीन है जिन्हें राज्य का संविधान उस संबंध में अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा अधिरोपित करे। अनुच्छेद 1(3)(ग) द्वारा भारत में राज्य-क्षेत्र अर्जित करने की शक्ति या प्राधिकार प्रदत्त नहीं किया गया है, और उक्त खण्ड द्वारा जो कुछ तात्पर्यित है, वह किन्हीं विदेशी राज्यक्षेत्रों के आमेलन और एकीकरण के लिए प्ररूपिक उपबंध करना है, जो उसके ऐसा करने के अंतर्निहित अधिकारों के आधार पर अर्जित किए जाएं। अनुच्छेद 1,2,3 और 4 पर इसी पृष्ठभूमि में विचार किया गया और प्रश्न को अन्ततः इस प्रकार स्पष्ट किया गया:—

> "अतः मूल प्रश्न यह है कि क्या संसद् अनुच्छेद 3 के अधीन करार के संबंध में विधान बना सकती है?"

> "इस संबंध में कोई संदेह नहीं हो सकता है कि विदेशी राज्य-क्षेत्र, जो अर्जन के पश्चात् अनुच्छेद 1(3)(ग) के अधीन भारत के राज्य-क्षेत्र का भाग हो जाता है, अनुच्छेद 3(क) के अंतिम खण्ड में सम्मिलित कर लिया जाता है और ऐसा राज्यक्षेत्र, उसके अर्जन के पश्चात्, नए राज्य में आमेलित किया जा सकेगा जो अनुच्छेद 3(क) के अधीन बनाया जाए। इस प्रकार अनुच्छेद 3(क) नए राज्य के बनाए जाने की समस्या के संबंध में है और उसमें वे रीतियां उपदर्शित की गई हैं, जिनके द्वारा नया राज्य बनाया जा सकता है।"

राज्य क्षेत्र के किसी भाग को समर्पित करने (छोड़ने) की शक्ति की प्रकृति पर विचार करते समय, यह अभिनिर्धारित किया गया कि ऐसी शक्ति को विवक्षा द्वारा अनुच्छेद 3(ग) में पढ़ा और समझा नहीं जा सकता है और संघ राज्य-क्षेत्रों के भाग के मामले में, इस बारे में कोई शंका नहीं हो सकती है कि वे अनुच्छेद 3 के अंतर्गत नहीं आते हैं। यह निष्कर्ष निकाला गया कि ऐसा अनुच्छेद 3 के अधीन विधि द्वारा सम्भव नहीं था और संविधान में संशोधन आवश्यक था। यह सच है कि अर्जन के मामले में, अनुच्छेद 2 को अपनी भूमिका निभानी है किंतु ऐसा केवल आरम्भिक प्रक्रम पर ही होता है, जब कोई नया राज्य-क्षेत्र अनुच्छेद 1(3)(ग) के अधीन भारत में सम्मिलित होता है और उसका राज्य-क्षेत्र बन जाता है। वर्तमान मामले में अनुच्छेद 2 के अधीन शक्ति का कभी भी प्रयोग नहीं किया गया। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आरम्भ में सिक्किम, संशोधन द्वारा संविधान में जोड़े गए अनुच्छेद 2-क द्वारा भारत का सहबद्ध राज्य बना। जब भारत में उसके पूर्ण विलय के लिए आगे कदम उठाया गया, तब अनुच्छेद 3 की पद्धति, ऊपर निर्दिष्ट बेरूबारी वाले मामले में की गई मताभिव्यक्तियों को देखते हुए, उपलब्ध नहीं थी। स्थिति को सही ढंग से निर्धारित करते हुए, एक बार पुनः संविधान के संशोधन के लिए नए सिरे से कार्यवाही की गई और सिक्किम को संविधान के 36वें संशोधन द्वारा, अन्य राज्यों के समान, पूर्ण राज्य की प्रास्थिति प्रदत्त की गई। जब एक बार ऐसा कर लिया गया, तब उसे संविधान के आधारभूत लक्षणों के अनुरूप ही होना था।

17. यदि हम यह मानकर चलते हैं कि इस पहलू पर प्रत्यर्थियों का आधार, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, सही है, तो परिणाम यह होगा कि राष्ट्र में बाद में सम्मिलित होने वाले भारत के एक भाग में एक भिन्न नियम को अभिभावी होने दिया जाएगा। यह कोई काल्पनिक धारणा नहीं है। वर्तमान शताब्दी के इस अंतिम दशक के दौरान भी शेष विश्व से अलग-थलग ऐसी जनजातियां भी हैं, जो आदिम स्वरूप की सामाजिक व्यवस्था को बनाए हुए हैं और इतिहास की सभ्यता की लम्बी यात्राओं (प्रगतियों) से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। बीमारी की दशा में, उपचार ओझा (*जादू-टोने* की चिकित्सा करने वाले) चिकित्सक को सौंप दिया जाता है और अभिकथित अपराध का विचारण ऐसे कतिपय व्यक्तियों के लिए छोड़ दिया जाता है, जिनके बारे में यह धारणा की जाती है कि उन्हें अलौकिक शक्तियां प्राप्त हैं, और वे आरोप पर विनिश्चय के लिए विचित्र (बेतुकी) पद्धतियां अपनाई जाती हैं। मानव-गरिमा पर कोई ध्यान दिए बिना, ऐसी स्त्रियों को जीवित जला दिया जाता है, जिन पर डाइन होने का अभियोग लगाया जाता है, और ऐसी अनेक प्रथाओं का अनुसरण किया जाता है, जो न्याय, स्वतंत्रता, समता और ऐसी प्रत्येक अन्य प्रकार की संकल्पना के विरुद्ध हैं, जिनका

---

[1]ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 944=[1967] 2 एस० सी० आर० 109.

[2]ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 845=[1960] 3 एस० सी० आर० 250.

1993(2) eILR(PAT) SC 143

आज हमारी सभ्यता समर्थन करती है। यदि हमारे संविधान की आधारभूत बातों के विरुद्ध इस वस्तुस्थिति को विधिमान्यता प्रदान करने के लिए कदम उठाए जाते हैं, तो न्यायालय मामले पर न्यायिक रूप से विचार करने के लिए कर्तव्यबद्ध हैं।

18. श्री पाराशरन् ने अपने तर्कों के दौरान इस न्यायालय से गुणागुण के आधार पर याची द्वारा उठाए गए प्रश्नों पर विचार करने से इस आधार पर इनकार करने का अनुरोध किया कि विवाद्यक राजनीतिक हैं। उन्होंने, एक प्रश्न के रूप में, यह दलील दी कि यदि हमारे पड़ोसी देशों में से एक देश (उन्होंने जानबूझकर उसका नाम नहीं लिया है) हमारे संविधान के दर्शन के अनुरूप कतिपय शर्तों पर भारत में सम्मिलित होना चाहता है, तो क्या हमें एक बृहत्तर और अधिक सशक्त देश बनाने के अवसर से और इस प्रक्रिया में उस अनावश्यक तनाव को समाप्त करने के अवसर से स्वयं को वंचित करना चाहिए, जो अंतरराष्ट्रीय रूप से अत्यधिक व्यग्रता उत्पन्न कर रहा है। यदि मुझे ऐसा कहने की अनुमति दी जाए, तो मैं यह कह सकता हूं कि इस चिन्तन में इस धारणा के कारण दोष है कि ऐसी स्थिति में केवल एक प्रक्रिया ही उपलब्ध है और वह हमारे संविधान के अधीन पूर्ण विलय के रूप में है, जैसी कि 36वें संशोधन द्वारा सिक्किम के मामले में अंगीकृत की गई है। उक्त अभिवाक् में ऐसे अन्य अनुकल्पों (विकल्पों) की उपेक्षा की गई है, जो उदाहरणार्थ, एक महासंघ बनाकर अंगीकृत किए जा सकते हैं। तथापि यह प्रश्न अत्यधिक काल्पनिक है और निश्चय ही वह स्वरूप में राजनीतिक है और मैं नहीं समझता कि उस का प्रमित शब्दों में उत्तर देना आवश्यक है।

19. विद्वान् महान्यायवादी और श्री नारीमन ने भी इन्हीं आधारों पर रिट याचिकाओं के चलने योग्य होने को प्रश्नगत किया है। मैंने, हमारे समक्ष दिए गए सभी तर्कों के प्रकाश में, उठाए गए विवाद की अन्याय्यता के अभिवाक् पर विचार किया है किंतु चूंकि मैं उसमें कोई सार-तत्व नहीं पाता हूं, अतः मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि न्यायालयों में न केवल रिट याचिकाओं में उठाए गए मुद्दों पर विचार करने और उनका विनिश्चय करने की अधिकारिता निहित है, बल्कि वे ऐसा करने के लिए कर्तव्याधीन भी हैं।

20. जहां तक रिट याचिकाओं के गुणागुण का संबंध है, हमारे लिए सर्वप्रथम संघ स्थान की बाबत स्थिति पर विचार करना उचित होगा। इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि आरक्षित स्थान लामाओं के निर्वाचक मण्डल द्वारा निर्वाचित किए जाने वाले अनेक बौद्ध मठों के प्रतिनिधि के लिए आरक्षित है, जिसमें रजिस्ट्रीकृत बौद्ध पुरोहितों को छोड़कर सिक्किम की संपूर्ण जनसंख्या को कुछ कहने के अवसर से वंचित रखा गया है। संघ की व्याख्या करने के प्रयोजन के लिए श्री पाराशरन् ने श्री बी०के० मुखर्जी द्वारा रचित, धार्मिक और पूर्त न्यासों की हिन्दू विधि पर पुस्तक के प्रति निर्देश किया है, जो बौद्ध मत के संबंध में है और जिसमें यह कहा गया है कि बौद्ध मत अनिवार्यतः मठ-परम्परा में विश्वास रखने वाला सम्प्रदाय है और बौद्ध व्यवस्था (परम्परा) या साधुओं (भिक्षुओं) का समूह 'संघ' के नाम से ज्ञात है और बुद्ध तथा धर्म (पवित्र विधि) के साथ यह संघ उन तीन रत्नों को गठित करता है, जो बौद्धों में पूजा (उपासना) की उच्चतम वस्तुएं हैं। यह दर्शित करने के उद्देश्य से कि संघ को इस प्रयोजन के लिए आरक्षित स्थान के लिए अनन्य मतदान का अधिकार दिया जा सकता था, उस अंश का भी अवलंब लिया गया, जिसमें यह कहा गया था कि संघ, निस्संदेह, एक न्यायिक व्यक्तित्व था और वह प्राइवेट व्यक्ति के समान ही सम्पत्ति को धारण करने में सक्षम था। इसके अतिरिक्त, निगम के रूप में संघ को एक प्रकार का अमरत्व (शाश्वत स्वरूप) प्राप्त था और परिणामतः वह संदा के लिए सम्पत्ति धारित करने में सक्षम था। दूसरे शब्दों में, संघ का, जिसे बौद्ध समाहार (समूह) के रूप में भी वर्णित किया गया है, क्रिश्चियन चर्च के समान ही, सामूहिक (निगमित) जीवन और न्यायिक अस्तित्व है। इन बौद्ध विहारों के प्रतिमान (माडल) पर आदि शंकराचार्य और अन्य हिन्दू साधु-संतों द्वारा मठों की स्थापना की गई। अब हम अधिनियम के आक्षेपित उपबंध पर आते हैं। यह स्पष्ट है कि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 7 (1क) (ग) द्वारा धारा 25-क में निर्दिष्ट संघों के लिए एक स्थान आरक्षित किया गया है। धारा 25-क में यह कहा गया है कि धारा 15 और 19 में किसी बात के होते हुए भी, ऐसे मठों के संघ, जिन्हें सिक्किम के लिए विधानसभा गठित करने के लिए धारा 74 में आयोजित निर्वाचनों के प्रयोजन के लिए मान्यता प्रदान की गई थी, निर्वाचक नामावली में अपना नाम दर्ज कराने के लिए हकदार होंगे। निर्वाचन आयोग को सिक्किम सरकार से परामर्श करके उसे तैयार या पुनरीक्षित करना होता है। सिक्किम के भारत में सम्मिलित होने से पूर्व, बौद्ध धर्म (मत) राज्य का धर्म था। सिक्किम के गजटियर 1864 में यह कहा गया था कि "लामा वाद या तिब्बती बौद्ध धर्म (मत) सिक्किम का राज्य धर्म है। यह स्थिति वर्ष 1974 तक बनी रही, जब संविधान सभा के लिए निर्वाचन कराए गए। रिट याची का यह पक्षकथन है कि धार्मिक मठों के पृथक् निर्वाचक मण्डल सहित, धर्म पर आधारित संघ के पक्ष में आरक्षण से भारत के संविधान के आधारभूत ढांचे का उल्लंघन होता है, और वह सिक्किम के पूर्ण राज्य के रूप में भारत में सम्मिलित होने के पश्चात् अनुज्ञेय नहीं है। यह दलील भी दी गई है कि (चूंकि) उक्त अधिकार का प्रयोग करने के लिए वास्तविक रूप में हकदार व्यक्तियों की संख्या काफी कम (लगभग 30 मात्र) है, अतः उनका अंश अननुपातिक रूप से बहुत अधिक बनता है।

21. इसके उत्तर में श्री पाराशरन् ने यह दलील दी कि संघ ने विगत काल में काफी लम्बे समय तक समाज के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और लामाओं तथा सामान्यजनों के निकाय ल्हाडे-मेडी ने सिक्किम के लोगों के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास में पर्याप्त योगदान किया है। अतः उनके प्रतिनिधित्व का उपबंध करने के लिए संघ स्थान का उपबन्ध किया गया है। उनका हित अल्पसंख्यक समुदायों के हित के सदृश है और इस आरक्षण को, जो चोग्याल के समय से चला आ रहा है, बनाए रखा जाना चाहिए। उन्होंने जार्ज कोट्टुरन की पुस्तक "दि हिमालयान गेटवे" से उद्धरण दिया, जो पुस्तक सिक्किम के इतिहास और संस्कृति के संबंध में है। उसमें यह कहा गया है कि लेखक ने यह पाया कि सर्वत्र मठ ही इस छोटे से समाज की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे थे। चोग्याल ने लामाओं को प्रशासन में भी अपनी भूमिका निभाने के लिए अनुज्ञा दी और इसलिए इस व्यवस्था में हस्तक्षेप करना उचित नहीं होगा। विद्वान् काउंसेल ने यह प्राख्यान करते हुए, अपनी ही रीति में इस स्थिति को स्पष्ट किया कि वस्तुतः आरक्षण

किसी धार्मिक निकाय के पक्ष में नहीं है और वह केवल धार्मिक विचारणा पर ही आधारित नहीं है। बौद्ध पुजारी (पुरोहित) लोगों की उपयोगी रूप में सेवा कर रहे थे और इसलिए आरक्षण को कायम रखा जाना चाहिए तथा इस तथ्य की उपेक्षा की जानी चाहिए कि वे एक विशेष धार्मिक निकाय से संबंध रखते हैं।

22. विद्वान् महान्यायवादी और श्री नारीमन का भी यही दृष्टिकोण था किंतु उनके तर्कों के दौरान इस बात पर और अधिक प्रकाश नहीं डाला गया। श्री फुर इशरिंग लेप्चा ने जिन्हें मध्याक्षेप आवेदन पर पक्षकार-प्रत्यर्थी के रूप में बाद में इन मामलों में सम्मिलित किया गया, अपना लिखित तर्क फाइल किया, जिसमें, अन्य बातों के साथ-साथ यह कहा गया कि संघ एक सुभिन्न सत्ता है, जिसने सिक्किम के पूर्वतम ज्ञात इतिहास में समाज के जीवन में और महत्वपूर्ण विवाद्यकों का विनिश्चय करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ल्हाडी-मेडी ने, जो सभी लामाओं और जनसाधारण का निकाय है, सिक्किम के लोगों के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास में पर्याप्त योगदान किया है, और संघ के पक्ष में आरक्षण उस वर्ग के प्रतिनिधित्व का उपबंध करने के लिए आरम्भ किया गया था, जो वर्ग सिक्किमी भूटिया-लेप्चा लोगों की आधारभूत संस्कृति के लिए उत्तरदायी था, जिनमें सिक्किम के नेपाली समुदाय के कुछ वर्ग भी सम्मिलित थे। इस संबंध में जॉर्ज कोट्टुरन की पुस्तक "हिमालयान गेटवे" के अनेक अंशों का अवलंब लिया गया है, जिस पुस्तक के प्रति पहले ही निर्देश किया जा चुका है। सारतः, श्री पाराशरन् द्वारा तर्क में लिए गए आधार पर, जिसका उनके लिखित निवेदनों द्वारा समर्थन किया गया है, श्री फुर इशरिंग लेप्चा द्वारा पुनः बल दिया गया है। उक्त पुस्तक के उद्धरणों में बौद्ध मत का इतिहास दिया गया है और यह उल्लेख भी किया गया है कि किस प्रकार भारत से सिक्किम जाने वाले अनेक संतों के मार्गदर्शन में समय-समय पर धर्म को उपांतरित किया गया। यह भी कहा गया है कि चोग्याल के अधीन सिक्किम की संस्कृति अनिवार्यतः धार्मिक थी और सिक्किम के संरक्षक-संत लाटसुम छेम्बो, जिनके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि वह एक भारतीय संत के अवतार हैं, पारम्परिक विश्वास के अनुसार एकाधिक बार अवतार पहले ले चुके हैं और सिक्किम के 12वें चोग्याल पालदेन थोन्दूप नामग्याल (जिन्हें पुस्तक में वर्तमान चोग्याल कहा गया है) (उक्त विश्वास के अनुसार) चोग्याल सिड्कियोंग के अवतार थे, जो स्वयं लामा के अवतार थे। पृष्ठ 481 पर सिक्किम के मठों की सूची दी गई है, जिससे यह उपदर्शित होता है कि पृथक् निर्वाचक मण्डल में केवल 30 संघों से कुछ अधिक संघ ही सम्मिलित हैं। लिखित तर्क में अन्य पुस्तकों से भी कुछ अंश उद्धृत किए गए हैं और "सिक्किम एंड भूटान — ट्वेंटी-वन ईयर्स ऑन दि नार्थ-ईस्ट फ्रंटीयर (सिक्किम और भूटान — उत्तर-पूर्व सीमान्त पर इक्कीस वर्ष) 1887-1908", जो जे०सी० ह्वाईट, सी० आई० ई० (सिक्किम के राजनीतिक अधिकारी, 1889-1908) द्वारा लिखित पुस्तक है, के पृष्ठ 15 पर जो कुछ कहा गया है, उससे यह उपदर्शित होता है कि नियम के रूप में (सामान्यतः) लामा लोग अज्ञानी, निष्क्रिय और बेकार आदमी हैं, जो देश के लोगों पर बोझ बन कर रह रहे हैं, जिसे वे निश्चित रूप में नीचे ले जा रहे हैं। निस्संदेह प्रत्येक नियम के अपवाद भी हुआ करते हैं और मैं ऐसे अनेक लामाओं से मिला हूं जो अत्यधिक सक्षम प्रतीत हुए; किंतु मुझे यह कहते हुए दुःख हो रहा है कि ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं। अधिसंख्या लामा सामान्यतः सांसारिक जीवन व्यतीत करते हैं और केवल आकर्षक वृत्ति के रूप में भी पुरोहिताई स्वीकार करते हैं, जिसमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती।

जे०एस० लाल (सिक्किम के दीवान, 1949-1952) द्वारा लिखित एक अन्य पुस्तक "दि हिमालय — आसपेक्ट्स ऑफ चेंज, 1981" (हिमालय — परिवर्तन के पहलू 1981 के पृष्ठ 228-229 पर यह कहा गया है कि यद्यपि लामाई बौद्ध मत शासकीय धर्म बना हुआ है, तथापि मुख्यतः उसका पालन भूटिया-लेप्चा और नेवार लोगों तथा तमंग जैसे कुछ अन्य जनजातीय-समूहों द्वारा किया जाता है और जोंगू में, जहां भिक्षुणी प्रथा अब भी बनी हुई है, बौद्ध मत का प्रभाव बहुत कम है। यह उल्लेख भी किया गया है कि मठों का प्रभाव कम हो रहा था और पुरोहिताई के लिए नव-दीक्षितों के रूप में युवा बालकों को उनके कुटुम्बों द्वारा बहुत कम संख्या में भेजा जा रहा था। अंतिम चोग्याल, जो स्वयं लामा के अवतार थे, रुचि के इस अभाव के बारे में अत्यधिक चिन्तित थे तथा उन्होंने और अधिक नव-दीक्षितों को आकर्षित करने के लिए एक प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किया। तिब्बत के एक प्रसिद्ध शिक्षक और आध्यात्मिक नेता की उपस्थिति के माध्यम से बौद्ध मत के पुनरुद्धार के लिए एक भिन्न रीति में प्रोत्साहन भी दिया गया। यह सब काफी बाद में, कदाचित, 1950 के दशक में, घटित हुआ था।

इस संबंध में ज्याफ्रे गोरेर की पुस्तक "हिमालयान विलेज़" का भी अवलंब लिया गया है, जिसके पृष्ठ 192-193 पर यह कहा गया है—

> "अंत में, लामावाद एक सामाजिक संगठन है। लामाओं (कम सीमा तक भिक्षुणियों) को अनुशासनबद्ध अधिक्रम में रखा जाता है। वे समाज के ऐसे वर्ग हैं, जो संपूर्ण समाज के लिए उसके धार्मिक कृत्यों का निष्पादन करते हैं; बदले में शेष समाज लामाओं को भौतिक सहायता देता है। तिब्बत में यह सामाजिक पहलू अत्यधिक महत्वपूर्ण है; लामाओं को लौकिक शक्ति का बृहत्तर भाग प्राप्त है और एक समूह के रूप में भी वे एक शोषक वर्ग हैं; मठ भूमियों के स्वामी हैं और भूमि से संलग्न कृषक वस्तुतः मठों के सेवक / दास हैं। निम्न श्रेणी के लामा भी उच्चतर श्रेणी के लामाओं के फायदे के लिए कार्य करते हैं और सम्भवतः कृषकों के समान, उन का भी बहुत शोषण किया जाता है। किंतु उनकी, कम से कम सिद्धांत रूप में ही, उच्चतर श्रेणी तक पहुंचने की संभावना रहती है, जो सम्भावना जनसाधारण के लिए बिल्कुल भी नहीं है। सिक्किम में, जहां तक मैं समझ सकता हूं, लामाओं का सामाजिक प्रभाव काफी कम है।"
>
> (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

एं० सी० सिन्हाकृत एक अन्य पुस्तक "पालिटिक्स ऑफ सिक्किम— सोशियोलाजिकल स्टेडी" (सिक्किम की राजनीति— एक समाज शास्त्रीय अध्ययन) में सिक्किम की पद्धति (तन्त्र) को इस प्रकार वर्णित किया गया है—

> "सिक्किम की राजनीतिक पद्धति एक अनूठे प्रकार

1993(2) eILR(PAT) SC 143

> का हिमालयी धर्म-राज्य पर आधारित सामंतवाद है जो तिब्बती लामावाद के प्रतिमान के सदृश है। उसका शासक न केवल राज्य का लौकिक प्रमुख है बल्कि वह अवतारी लामा भी है, जिस पर "चूज" (धर्म) के सिद्धांतों के अनुसार नागरिकों पर शासन करने का उत्तरदायित्व है। वर्ष 1642 से ही सिक्किम में लामाई राजतंत्र के आधारभूत सिद्धांत स्थापित धर्म के रूप में चोस (छोस) और शासक (र-ग्यालपो) हैं, जो "चोसर-ग्याल" (चोग्याल) उपाधि को न्यायोचित ठहराने वाले सिद्धांत को कार्यान्वित करने में मुख्य भूमिका निभाते हैं।"

इस पुस्तक में यह भी अभिलिखित है कि किस प्रकार चोग्याल का संरक्षण प्राप्त करते हुए, बोद्ध मठों ने सिक्किम में अपने प्राधिकार का प्रयोग किया। किन्तु बौद्ध सन्यासी (भिक्षु) उच्च जाति के भूटिया और लेप्चा लोगों में से होते थे। लामाओं ने अपना कार्य केवल प्रशासन तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उन्होंने निर्वाचक मण्डल को भी अपने नियंत्रण में रखा। पृष्ठ 78 पर यह कहा गया है कि हिमालय-पार के व्यापार का एक बड़ा भाग मारवाड़ियों, कुलीन लोगों और कुछ लामाओं के हाथ में था।

23. एक अन्य मध्यक्षेपी, जिसने अपना पक्षकथन प्रस्तुत किया, सिक्किम जनजातीय कल्याण संगम (सिक्किम ट्राइबल वेलफेयर एसोसिएशन) है, जो, अन्य बातों के साथ-साथ, प्रभावी रूप से और दक्षतापूर्वक गंगतोक में सिक्किम के भूटिया-लेप्चा और शेरपा लोगों के सशक्त और स्वस्थ संगठन की स्थापना और उसका संप्रवर्तन करने के लिए और बाद में सिक्किम के चारों जिलों में ऐसे ही संगठन स्थापित करने के लिए एक रजिस्ट्रीकृत संगठन है। उसके लिखित तर्क में, जोसेफ डालटन हूकर की, जिसने वर्ष 1848 में सिक्किम की यात्रा की, पुस्तक में लम्बे-लम्बे उद्धरण दिए हैं (उक्त पुस्तक वर्ष 1854 में प्रकाशित हुई थी), जिसमें लेप्चा लोगों के नाक-नक्श, आदतों और रीति-रिवाजों का ब्यौरेवार वर्णन दिया गया है, जो निश्चय ही बहुत रोचक हैं किंतु वर्तमान मामलों में उनकी बहुत कम संगति है। मध्यक्षेपी ने यह दर्शित करने के लिए इस पुस्तक का अवलंब लिया है कि लेप्चा लोग नेपालियों के आगमन से पूर्व सिक्किम में रह रहे थे, जो (नेपाली लोग) ब्रिटिश शासकों और अन्य लोगों द्वारा सिक्किम में लाए गए। उनके द्वारा अपनाए जाने वाले रीति-रिवाजों से यह उपदर्शित होता है, जैसा कि उक्त पुस्तक में उल्लेख किया गया है, कि उनका अस्तित्व प्रकृति में इतना आदिम था कि हर जनजाति का एक पुरोहित चिकित्सक होता था, जो न तो उपचार की कला जानता ही था और न उसका व्यवसाय करता था बल्कि वह पूर्णतः ओझा (झाड़-फूंख करने वाला) होता था और सभी शारीरिक रोग भूतपिशाचों के कार्य माने जाते थे, जिन्हें प्रार्थनाओं और आवाहनों (झाड़-फूख) द्वारा दूर किया जाता है। इस प्रश्न पर कि सिक्किम के प्रारम्भिक निवासी कौन हैं, गंभीर विवाद हैं क्योंकि इस संबंध में अन्य दूसरा मत यह है कि जहां तक भूटिया लोगों का संबंध हैं, उन्हें जनजातीय समूह के रूप में नहीं माना जा सकता है। मैं नहीं समझता कि कोई बात उस कालानुक्रम से संबंधित प्रश्न पर निर्भर करती है, जिसमें सिक्किम में बसी जनसंख्या के विभिन्न वर्ग स्थापित हुए हैं और इसलिए मैं इस पहलू पर पक्षकार द्वारा फाइल किए गए शपथपत्रों पर विचार करना उचित नहीं समझता। तथापि अभिलेख से यह स्पष्ट है कि सर्वप्रथम वर्ष 1958 में संघों को परिषद् में एक स्थान आबंटित किया गया और संघों में नियुक्त लामा भूटिया और लेप्चा जनजातियों की जनसंख्या के अल्पसंख्यक वर्ग (25 प्रतिशत से कम) से लिए जाते हैं। संघ स्थान के आरक्षण के समर्थन में विभिन्न प्रत्यर्थियों द्वारा दिया गया तर्क वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जिसमें यह दर्शित किया गया कि लामा, धार्मिक कृत्यों और धार्मिक तथा आध्यात्मिक कर्तव्यों का निष्पादन और निर्वहन करने के अतिरिक्त, सामाजिक सेवा भी करते थे और चोग्याल के संरक्षण के अधीन उन्हें प्रशासन में भाग लेने के लिए भी अनुज्ञात किया गया था। यह तर्क दिया गया है कि यद्यपि चोग्याल का पद समाप्त हो गया है, तथापि प्रशासन में इन बौद्ध संयासियों (भिक्षुओं) की सहभागिता को अस्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। अब विवाद यह है कि क्या पूर्ण राज्य के रूप में सिक्किम के भारत में सम्मिलित हो जाने के पश्चात् ऐसा अनुज्ञेय है।

24. यह बात दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुकी है और उसकी विस्तार से व्याख्या आवश्यक नहीं है कि संविधान का ऐसा कोई भी संशोधन जिससे संविधान के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन होता है, अनुज्ञेय नहीं है। प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के उपबंधों से इन आधारभूत लक्षणों में से किसी भी लक्षण का किसी प्रकार उल्लंघन नहीं होता है और चूंकि उक्त खण्ड द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियमों में आक्षेपित आरक्षण अनुज्ञात किए गए हैं, अतः उन्हें कायम रखा जाना है।

25. जहां तक संघ स्थान के आरक्षण का संबंध है, प्रश्न यह है कि क्या उससे अनुच्छेद 15 और अनेक अन्य उपबंधों का उल्लंघन होता है; और क्या इन सांविधानिक उपबंधों में संशोधन द्वारा परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। यदि स्वरूप में वे आधारभूत हैं, तो उनका सम्मान किया जाना होगा और खण्ड (च) का इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि अध्यारोही खण्ड के होते हुए भी, जिससे उक्त अनुच्छेद आरम्भ होता है, उससे उनका उल्लंघन नहीं होता है।

26. सर्वप्रथम हम अनुच्छेद 15 पर विचार करेंगे, जिसके द्वारा धर्म के आधार पर विभेद (भेदभाव) प्रतिषिद्ध किया गया है। बौद्ध मठ, जो आरक्षण के हिताधिकारी हैं, स्वीकृततः धार्मिक संस्थाएं हैं। प्रत्यर्थियों ने यह सुझाव देने का प्रयास किया है कि यद्यपि, मूलभूत रूप से मठ प्रकृति में धार्मिक हैं, तथापि वे उन सामाजिक सेवाओं के कारण समाज का पृथक् वर्ग (गठित करते) हैं, जो सेवाएं वे मुख्यतः जनसंख्या के भूटिया-लेप्चा वर्ग के प्रति करते आ रहे हैं। इस तथ्य पर भी बल दिया गया है कि लगभग 17 वर्षों से—जी हां, केवल 17 वर्षों से वे चोग्यालों के आशीर्वाद से प्रशासन में सहभागिता कर रहे थे—क्योंकि उनके पक्ष में, भारत में विलय से पूर्व सर्वप्रथम 1958 में स्थान सर्जित किया गया था। यह तर्क दिया गया है कि इस पृष्ठभूमि में उन्हें आरक्षण के प्रयोजन के लिए मात्र धार्मिक संस्थाएं नहीं माना जाना चाहिए और, किसी भी दशा में, उन्हें पृथक् समूह में रखने के लिए धर्म एकमात्र आधार नहीं है। अतः वर्गीकरण असंवैधानिक नहीं है। मैं स्वयं को प्रत्यर्थियों से सहमत होने की स्थिति में नहीं पाता हूं। बौद्ध मठ प्रकृति में पूर्णतः धार्मिक हैं और लोगों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने और बौद्ध धर्म के कर्मकांड-संबंधी पक्ष की देखभाल करने के अतिरिक्त, वे वह सब करने का भी प्रयास कर रहे हैं, जिसकी उनका धर्म उनसे आशा करता है। लोगों

की ओर समाज की चिन्ता बौद्ध मत की और तत्प्रयोजनार्थ सभी धर्मों की, कार्य-सूची में सर्वोपरि है। किन्तु भिक्षुओं (संयासियों) की हैसियत में ही वे सिक्किम के लोगों के एक अल्पसंख्यक वर्ग की सहायता करने का प्रयास कर रहे हैं और वही उनकी सही पहचान है। स्थिति उस दशा में भिन्न हो सकती थी, यदि आरक्षण लोक सेवा में रत किसी सामाजिक समूह के पक्ष में होता, जिसके कारण पहचान हेतु, इन संयासियों सहित, धार्मिक समूह बनाए जाते। किंतु ऐसा नहीं है। स्थिति इससे बिल्कुल विपरीत है। प्रत्यर्थियों का प्रयास एक विशेष धार्मिक निकाय के पक्ष में आरक्षण की प्रतिरक्षा करना (को उचित ठहराना) है और उसके औचित्य के रूप में समाज सेवा का तत्व सामने लाना है। वे यह भूल जाते हैं कि जनता के एक वर्ग के प्रति समाज-सेवा करने में संघ की भूमिका इन मठों का ही विशेष लक्षण नहीं है। असहाय रुग्ण व्यक्तियों को, विशेष रूप से विश्व के कम विकसित भागों में ईसाई मिशनरियों द्वारा तथा युद्ध में बुरी तरह से घायल सिपाहियों के प्रति उनके द्वारा की गई निःस्वार्थ सेवा की या तत्प्रयोजनार्थ, समाज की, सभी क्षेत्रों में सेवा (देखभाल) की जो अत्यधिक प्राचीनकाल से भारत के विभिन्न भागों में असंख्य हिन्दू मठों और मन्दिरों (न्यासों) द्वारा की जाती रही है, उपेक्षा नहीं की जा सकती है। हिन्दू और मुस्लिम धार्मिक निकायों द्वारा चलायी जाने वाली अनेक पूर्त संस्थाएं विविध नीतियों में लोगों की सदा सहायता करती रही हैं। विद्वान् और स्वार्थरहित धार्मिक सन्तों और नेताओं ने अनेक शताब्दियों से सभ्य समाज की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान किया है और इतिहास से यह दर्शित होता है कि ऐसा धार्मिक संस्थाओं और संगठनों के माध्यम से किया गया है। भारत में अन्य धर्मों के संबंध में भी यही स्थिति है। उस सकारात्मक भूमिका को, जो धर्म ने मानवता को बर्बर उपेक्षा से उठाकर वर्तमान जागरूक और सभ्य अस्तित्व तक पहुंचाने में निभाई है, कम करके नहीं आंका जाना चाहिए। किंतु इसके साथ ही, इस बात को भी भुलाया नहीं जा सकता है कि धर्म का समय-समय पर, मानवता पर बड़ी मुसीबतें लाने के लिए दुरुपयोग भी किया गया है। अतः आधुनिक समय में, सामाजिक और राजनीतिक चिंतक राजनीति और राज्य के परिकरण को प्रभावित और नियंत्रित करने के लिए धर्म को अनुज्ञा देने की वांछनीयता के प्रश्न पर सर्वसम्मत राय नहीं रखते हैं। दोनों दृष्टिकोणों में अंतर बहुत महत्वपूर्ण और प्रभाव में दूरगामी है, और साधारणतः राष्ट्रीय वचनबद्धता के रूप में इस या उस मत को स्वीकार किया गया है, और वह परिवर्तन के अधीन नहीं है। जब मैं इस विवाद्यक पर आगे विचार करने के लिए अग्रसर होऊंगा, तब मैं 'धर्म' पद का उसके शुद्ध और सच्चे अर्थ में प्रयोग नहीं करूंगा, जो सामान्य रूप से करूणा और प्रेम का संदेश फैलाता है, तथा उस सामान्य संकल्पना में उसका प्रयोग करूंगा, जिसमें उसे आजकल सामान्य रूप से समझा जाता है और आधुनिक समय में सामान्य व्यक्ति द्वारा कभी-कभी आध्यात्मिक अनुभव के रूप में और कभी पारम्परिक कर्मकांड के रूप में स्वीकार किया जाता है किंतु अधिकांशतः जनसंख्या के इस या उस वर्ग पर सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव के रूप में स्वीकार किया जाता है, जो परस्पर दो व्यक्तियों के बीच अविश्वास और विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच शत्रुता पैदा करता है (यद्यपि अनाशयित रूप से)। इस प्रक्रिया में समाज का कल्याण ही, जो प्राथमिक विचारणा की वस्तु है, उसका शिकार हो जाता है।

27. यहां यह बात याद रखी जानी है कि यदि संविधान का इस प्रकार निर्वचन किया जाता है, जिससे बौद्ध मठों जैसी धार्मिक संस्थाओं के एक समूह के लिए विधान-मण्डल में स्थान संशोधन द्वारा, अनुज्ञात किया जाता है, तो उससे निष्कर्ष यह निकलेगा कि अन्य धर्मों की संस्थाओं के लिए भी ऐसा आरक्षण अनुज्ञेय होगा। देश में ईसाई मिशनरी संस्थाओं के लिए भी, आदिवासियों के उत्थान के कार्य के प्रति उनकी सेवाओं, शिक्षा के क्षेत्र में उनके योगदान और असुविधाग्रस्त लोगों को चिकित्सीय सहायता देने के आधार पर या हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों और अन्य धर्मों के लिए जो असहाय लोगों के लिए महत्वपूर्ण राहत प्रदान करते हैं, ऐसे उपबंध के विरुद्ध कोई उचित कारण नहीं होगा और इन सबसे विधान-मण्डलों का रूप ही, अन्ततः, परिवर्तित हो जाएगा। यह प्रभाव (परिणाम) कि सिक्किम में मठों के लिए इस समय केवल एक स्थान ही आरक्षित रखा गया है, वह क्षीण शंकु-रेखा है, जिसकी, समयानुक्रम में उस आधार को ही समाप्त करने की शक्यता है, जिस पर जनतांत्रिक गण राज्य की स्थापना की गई है। इस पृष्ठभूमि में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या इन सब को संविधान के आधारभूत लक्षणों से असंगत (के विरुद्ध) होने के कारण प्रतिषिद्ध किया गया है। मुझे इस विवाद्यक का सकारात्मक उत्तर देने में कोई हिचकिचाहट नहीं है। अब हम संविधान के सुसंगत उपबंधों का संक्षिप्त सर्वेक्षण करेंगे।

28. उद्देशिका में, जो संविधान को समझने की कुंजी है, आरम्भिक शब्दों द्वारा ही, गणराज्य के जनतांत्रिक स्वरूप पर बल दिया गया है, जिसके द्वारा सब लोगों को प्रतिष्ठा और अवसर की समता की गारण्टी दी गई है, जिसके लिए भारत के लोगों ने इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करके गणराज्य गठित करने का संकल्प किया था। संविधान के कलेवर को भाग-3 में विकसित किया गया है, जो मूल अधिकारों के संबंध में है, और संविधान के निर्माता, विधि के समक्ष समता सुनिश्चित करने वाले अनुच्छेद 14 को सम्मिलित करने के पश्चात् भी, तब तक संतुष्ट नहीं हुए, जब तक उन्होंने विशेष व्यवहार के आधार के रूप में धर्म का विनिर्दिष्ट रूप से प्रतिषेध नहीं कर दिया। धर्म के प्रचार-प्रसार की स्वतंत्रता और धार्मिक कार्य करने आदि के अधिकार को अनुच्छेद 25 से 28 द्वारा अभिव्यक्त रूप से मान्यता प्रदान की गई किंतु जब राज्य पर चर्चा का विषय आया, तब अधिमत इस बारे में स्पष्ट और असंदिग्ध था कि उसे सभी प्रकार के धार्मिक प्रभाव से मुक्त रहना चाहिए।

29. श्री नारीमन ने यह दावा किया कि धर्म के आधार पर विभेद के विरुद्ध प्रतिषेध जनतांत्रिक राज्य का आधारभूत लक्षण नहीं है। उन्होंने साइप्रस के संविधान पर विशेष बल देते हुए, अनेक देशों के संविधानों का सशक्त अवलंब लिया। यह तर्क दिया गया कि यद्यपि साइप्रस एक स्वतंत्र और संप्रभु गणराज्य है, जिसका जनतांत्रिक संविधान है, तथापि विधान-मण्डल में स्थान, ग्रीक-आर्थोडॉक्स चर्च को मानने वाली ग्रीक जनसंख्या और मुस्लिम तुर्की समुदाय के बीच विभाजित है। उच्चतम स्तर पर भी विभाजन है— राष्ट्रपति सदा ग्रीक ईसाई होगा और उप-राष्ट्रपति मुस्लिम तुर्क। श्री नारीमन ने साइप्रस के संविधान द्वारा उपबंधित पृथक् निर्वाचन-मण्डल (पद्धति) पर बल दिया और यह तर्क दिया कि इन उपबंधों से संविधान अजनतांत्रिक या अवैध नहीं हो जाता है। उन्होंने यह दर्शित करने के लिए स्टेटसमैन की ईयर बुक (जिसमें वर्ष

1985-86 के लिए विश्व के राज्यों के सांख्यिकीय और ऐतिहासिक वार्षिक विवरण अंतर्विष्ट हैं) के प्रति भी निर्देश किया कि ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च को मानने वाले ईसाई समुदाय की जनसख्या वर्ष 1983 में 5,28,700 थी किंतु उसे विधानमण्डल में केवल 70 प्रतिशत स्थान आरक्षित किए गए और तुर्की मुसलमानों को, जिनकी जनसंख्या केवल 1,22,900 थी, शेष 30 प्रतिशत स्थान आबंटित किए गए। दूसरे शब्दों में , मुसलमानों को, जो कुल जनसंख्या का केवल 20 प्रतिशत भाग थे, 30 प्रतिशत स्थान आबंटित किए गए। विद्वान् काउंसेल के इस तर्क में यह दोष है कि उन्होंने यह गलत धारणा की है कि सभी संविधानों के आधारभूत लक्षण एक या एक जैसे होते हैं। किसी संविधान का आधारभूत दर्शन संस्कृति और परम्परा, सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाओं और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सहित, अनेक बातों से सम्बद्ध होता है। यदि वर्ष 1947 में भारत का विभाजन न हुआ होता और सभी धार्मिक समुदायों के लोगों ने, धार्मिक आधार पर सत्ता की साझेदारी का उपबंध करते हुए कोई संविधान अंगीकृत करके, साइप्रस के लोगों के समान किसी व्यवस्था पर सहमति व्यक्त करने का विनिश्चय कर लिया होता, तो साइप्रस का संविधान सुसंगत हो सकता था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और अनेक अन्य राजनीतिक और सामाजिक समूहों की ओर से, जो सामान्यतः उन लोगों का प्रतिनिधित्व करते थे, जो विभाजित भारत में रह गए थे धर्म के आधार पर देश के विभाजन से बचने का बराबर प्रयास किया गया किंतु वे सफल नहीं हो सके। दुर्भाग्यवश, देश की एकता को बनाए रखने के लिए किया गया संघर्ष एक अस्त्र के रूप में प्रयुक्त धर्म द्वारा विफल कर दिया गया। देश को गम्भीर राष्ट्रीय त्रासदी का सामना करना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप एक बड़े परिमाण में मानव-जीवन की हानि हुई। धार्मिक कट्टरवाद की विजय हुई, जिसने और अधिक कट्टरवाद को पैदा और प्रोत्साहित किया। एक अभूतपूर्व पैमाने पर मृत्यु और विनाश की छाया में, संविधान के निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ। अतः इस देश की परिस्थितियों से भिन्न परिस्थितियों में विरचित साइप्रस का संविधान या कोई अन्य संविधान हमारे संविधान के आधारभूत दर्शन और आचार-नीति को समझने में संगत नहीं हो सकता है, यद्यपि वर्तमान मामले में विनिश्चय के लिए यह पूर्णतः संगत नहीं है, तथापि यह उल्लेख करना उचित होगा कि साइप्रस का यह पैबंद (जोड़जाड़) वाला संविधान, जिस पर वे पक्षकार, जिनका श्री नारीमन ने प्रतिनिधित्व किया है, इतने मोहित दिखाई देते हैं, उस देश को एक रखने में पूर्णतः असफल रहा है।

विद्वान काउंसेल, ने संघ राज्य क्षेत्रों और नागालैण्ड राज्य की बाबत अनुच्छेद 239-क, 240 और 371-क, तथा अनुच्छेद 331 के उपबंधों के प्रति भी निर्देश किया, जिसके द्वारा राष्ट्रपति को आंग्ल-भारतीय (एंग्लो-इण्डियन) समुदाय के एक या दो सदस्यों को नामनिर्देशित करने के लिए अनुज्ञात किया गया है, यदि उनकी यह राय है कि लोक सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है। मैं नहीं समझता कि इन अनुच्छेदों से वर्तमान मामले में प्रत्यर्थियों को किस प्रकार सहायता मिल सकती है। इनमें से कोई भी उपबंध किसी भी विशेष धर्म से किसी भी प्रकार जुड़ा हुआ नहीं है। ऐसी कोई गलत धारणा नहीं होनी चाहिए "आंग्ल-भारतीय" क्रिश्चियन (ईसाई) होगा [अनुच्छेद 366(2) में उक्त पद की परिभाषा देखें]।

30. धर्म न केवल देश के विभाजन का कारण बना, बल्कि उससे व्यापक स्तर पर रक्तपात भी हुआ, जो उसके बाद भी बना रहा और जिसमें विभिन्न समुदायों के लोगों की बड़ी संख्या में मृत्यु हुई। भारत के लोगों को यह विश्वास हो गया है कि यह त्रासदी ब्रिटिश शासकों की धर्म के आधार पर लोगों को विभाजित करने और उनके साथ राजनीतिक स्तर पर भेदभाव का बर्ताव करने की नीति का प्रत्यक्ष परिणाम थी। ब्रिटिश शासन की स्थापना के उनके पूर्वतर विरोध के समय (के दौरान) हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ कार्य कर रहे थे और यह समुच्चय विदेशियों के लिए खतरनाक साबित हो रहा था, तथा वर्ष 1857 में ब्रिटिश साम्राज्य को एक गम्भीर संकट (धमकी) का सामना करना पड़ा। इस पृष्ठभूमि में 'विभाजित करो और शासन करो' का सिद्धांत अंगीकृत किया गया और धर्म के आधार पर देश के मुख्य समुदायों के बीच अविश्वास और घृणा का वातावरण पैदा किया गया— इतिहास के ये ऐसे तथ्य हैं, जिनके बारे में कोई विवाद नहीं है। वे लोग, जिन्होंने अनुकरणीय त्याग और बलिदान किया था, दुर्भाग्यवश अविभाजित राष्ट्र की स्वतंत्रता के अपने संघर्ष में असफल रहे और उनके पास देश के विभाजन के तथ्य के साथ समझौता करने के सिवाय दूसरा विकल्प नहीं था। इन्हीं लोगों ने वर्तमान संविधान विरचित किया और उस आघात के बावजूद, जो उन्हें पहुंचा था, उन्होंने जनतांत्रिक गणराज्य में अपना दृढ़ विश्वास पुनः व्यक्त किया, जिसमें धर्म की कोई भूमिका नहीं थी। न्यायविदों द्वारा इसी चीज को "इतिहास रचना" के रूप में वर्णित किया गया है और वह संविधान के निर्वचन के लिए एक सहायक तत्व के रूप में उपलब्ध है।

31. यदि हम सम्पूर्ण संविधान पर उक्त "इतिहास रचना" सहित, इस प्रयोजन के लिए विधि में सुसंगत अन्य सामग्री के साथ सामंजस्यपरक रूप में विचार करते हैं, तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य है कि धर्म के आधार पर किसी एक समूह के पक्ष में निर्वाचन (मत-दान) में कोई महत्व दिया जाना पूर्णतः प्रतिषिद्ध किया गया है और इसके अतिरिक्त, यह एक ऐसा आधारभूत लक्षण है, जो संशोधन के अध्यधीन नहीं है। अतः अनुच्छेद 7(1) (क)(ग) के उपबंधों और अन्य सम्बद्ध संशोधनों को शक्तिबाह्य माना जाना चाहिए।

32. संघ के लिए आरक्षण में एक अन्य गंभीर दोष भी है, जिसके कारण वह असंवैधानिक (हो गया) है। 1950 वाले अधिनियम के आक्षेपित उपबंधों द्वारा इस स्थान के लिए एक विशेष निर्वाचक-मण्डल सर्जित किया गया है, जो संविधान के मूलभूत सिद्धांतों के बिल्कुल विपरीत है। संविधान-सभा में इस प्रश्न पर गंभीर विचार किया गया कि क्या संविधान के अधीन पृथक् निर्वाचक-मण्डल को अनुज्ञात किया जा सकता है। नागरिकों, अल्पसंख्यकों आदि के मूल अधिकारों को अवधारित करने के लिए, तारीख 24 जनवरी, 1947 को एक सलाहकार समिति गठित की गई। सलाहकार समिति को उपसमितियां नियुक्त करने के लिए सशक्त किया गया (देखें बी० शिव राव कृत "फ्रेमिंग ऑफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन", खण्ड-2 पृष्ठ 56-57) और तद्नुसार अन्य प्रश्नों के साथ-साथ इस प्रश्न पर विचार करने और रिपोर्ट देने के लिए, तारीख 27 फरवरी, 1947 को अल्पसंख्यकों पर एक उपसमिति नियुक्त की गई कि क्या संयुक्त निर्वाचक मण्डल होना चाहिए या पृथक् निर्वाचक मण्डल। उपसमिति ने 28:3 के बहुमत द्वारा यह विनिश्चय किया कि विधानमण्डलों

के निर्वाचन के लिए पृथक् निर्वाचक मण्डल नहीं होने चाहिएं। (शिवराव कृत "फ्रेमिंग ऑफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन" खण्ड 2, पृष्ठ 352)। उपसमिति की रिपोर्ट सलाहकार समिति द्वारा स्वीकार कर ली गई और निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां की गईं—

> "वह प्रथम प्रश्न, जिसका हमने सामना किया, पृथक् निर्वाचक मण्डलों का था; हमने इस रशन को स्वयं अल्पसंख्यकों के लिए और संपूर्ण देश के राजनीतिक जीवन के लिए निर्णायक महत्व का प्रश्न माना। प्रबल बहुमत द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि नए संविधान में पृथक् निर्वाचक मण्डल की प्रणाली समाप्त कर दी जानी चाहिए। हमारे निर्णयानुसार, इस प्रणाली ने विगतकाल में एक खतरनाक सीमा तक साम्प्रदायिक मतभेद बढ़ाए हैं और वह स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के विकास में मुख्य बाधा सिद्ध हुई है। नई राजनीतिक दशाओं में जो इस समय देश में मौजूद हैं, इन खतरों से बचना विशेष रूप से आवश्यक प्रतीत होता है और इस दृष्टिकोण से, हमें पृथक् निर्वाचक-मण्डल प्रणाली के विरुद्ध दिए गए तर्क पूर्णतः निश्चायक प्रतीत होते हैं। तदनुसार हम यह सिफारिश करते हैं कि केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के लिए सभी निर्वाचन संयुक्त निर्वाचक-मण्डल प्रणाली के आधार पर किए जाने चाहिएं।" (शिवराव कृत "फ्रेमिंग ऑफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन", खण्ड 2, पृष्ठ 412)

(बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

मैं समझता हूं कि सलाहकार समिति का यह सुझाव देना सही था कि पृथक् निर्वाचक मण्डल प्रणाली के विरुद्ध विनिश्चय सभी आने वाले समयों के लिए पूर्णतः विनिश्चायक था। सरदार पटेल ने उस कष्ट और भारी दंड के प्रति निर्देश करने के पश्चात् जो राष्ट्र को इस कारण भोगना पड़ा था इस प्रकार अपना संतोष व्यक्त किया—इस मुद्दे पर सर्वसम्मति रही है कि अब पृथक् निर्वाचक मण्डल बिल्कुल भी नहीं होने चाहिएं और इसके पश्चात् हमें संयुक्त निर्वाचक मण्डल रखने चाहिएं। अतः यह एक बड़ी उपलब्धि है। वाद-विवाद का उत्तर देते हुए, सरदार पटेल ने अपना मत इन शब्दों में व्यक्त किया—

> "मुझे उन भाषणों को सुनने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था, जो आरंभिक प्रक्रमों पर किए गए थे, जब सांप्रदायिक निर्वाचक मण्डलों की पद्धति के प्रश्न पर कांग्रेस में विचार किया गया और उसे स्वीकार किया गया; किंतु ऐसे अनेक प्रख्यात मुसलमान हैं जिन्होंने अपना यह मत व्यक्त किया है कि इस देश में सबसे बड़ी बुराई, जो यहां लाई गई है, सांप्रदायिक निर्वाचक मण्डल प्रणाली है। सांप्रदायिक निर्वाचक मण्डल प्रणाली की स्वीकृति ऐसा विष है, जो हमारे देश के सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र में ही घुल गया है। अनेक अंग्रेजों ने भी, जो इसके लिए उत्तरदायी थे, यह बात स्वीकार की है। किंतु आज, इस सांप्रदायिक निर्वाचक मण्डल प्रणाली के परिणामस्वरूप देश के पृथक्करण पर सहमति व्यक्त करने के पश्चात् मैंने यह कभी भी नहीं सोचा कि यह प्रतिपादना गम्भीरतापूर्वक प्रस्तुत की जा रही है और यदि उसे गंभीरतापूर्वक प्रस्तुत किया भी गया, तब उस पर गंभीरतापूर्वक विचार भी किया जाएगा।" (संविधान सभा वाद-विवाद; खण्ड 5, पृष्ठ 225)

(बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

तथापि, मैं यह पाता हूं कि आक्षेपित संशोधन गंभीर विचार किए बिना किया गया और प्रत्यर्थी उसका इतनी दृढ़ता से समर्थन कर रहे हैं कि इस न्यायालय के लिए उक्त प्रतिपादना पर 'गंभीरतापूर्वक' विचार करना आवश्यक हो गया है। पण्डित गोविन्द बल्लभ पंत ने मुस्लिम लीग के बी० पोकर साहेब बहादुर द्वारा प्रस्तुत एक संशोधन का विरोध करते हुए, जिसमें मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचक मण्डल प्रणाली का उपबंध किया गया था, अपना आक्रोष इस प्रकार व्यक्त किया :—

> ".....हम सबको इसका पर्याप्त अनुभव प्राप्त हो चुका है, और यह जानकर दुःख होता है कि उस तमाम अनुभव को भुला दिया गया है और अब भी लोग उन दकियानूसी ख्यालों और नारों से चिपके हुए हैं, जिनकी अब पूर्णतः पोल खुल चुकी है। (संविधान सभा वाद-विवाद; खण्ड 5, पृष्ठ 224)

(बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

श्री वी० आई० मुनिस्वामी पिल्लै ने इन्हीं भावनाओं को दोहराया और राहत की सांस लेते हुए यह कहा—

> ".....महोदय, मैं सदन को यह बताना चाहूंगा कि हमने पृथक् निर्वाचक मण्डलों द्वारा निर्वाचन की हानिकर प्रणाली (पद्धति) से छुटकारा प्राप्त कर लिया है। उसे बहुत गहरा गाड़ दिया गया है जिससे कि अब वह हमारे देश में कभी भी नहीं उठ सकेगी। वे दशाएं (परिस्थितियां) जो विभिन्न प्रान्तों में उस समय थीं, पृथक् निर्वाचक मण्डल प्रणाली को आरम्भ करने का वास्तविक कारण थी। पूना समझौते ने हमें पृथक् और संयुक्त, दोनों ही प्रकार की, निर्वाचक मण्डल पद्धतियां दीं किंतु अब हमने इस रिपोर्ट के अनुसार, जो यहां प्रस्तुत की गई है, यह सलाह दी है कि दलित वर्ग संयुक्त निर्वाचक मण्डल पद्धति का लाभ प्राप्त कर रहे हैं। महोदय। यह आशा की जाती है कि इस महान संघ में, जिसकी हम परिकल्पना कर रहे हैं, यह देश आने वाले वर्षों में महान देश बनेगा,— संयुक्त निर्वाचक मण्डल प्रणाली से सवर्ण हिन्दुओं और अल्पसंख्यक समुदायों को एक साथ आने और साथ-साथ कार्य करने और एक बेहतर भारत को बनाने का समान अवसर प्राप्त होगा।" [संविधान सभा वाद-विवाद; खण्ड 5, पृष्ठ 202]

दुर्भाग्यवश, श्री पिल्लै का यह दृढ़ विश्वास उस समय झुटला दिया

1993(2) eILR(PAT) SC 143

गया, जब तीन दशक पश्चात् वर्ष 1980 में संशोधन द्वारा प्रश्नगत आरक्षण जोड़ दिया गया।

सरदार पटेल द्वारा अपने उत्तर में अंग्रेजों की भी राय के प्रति किए गए निर्देश को और श्री पिल्लै द्वारा पूना समझौते के प्रति किए गए निर्देश को ठीक-ठीक समझने के लिए इस पहलू से संगत, ब्रिटिश शासन के दौरान हुई घटनाओं का संक्षिप्त स्मरण उचित होगा।

33. विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध भारतीयों के संयुक्त मोर्चे को तोड़ने के लिए, शासन की ओर से सर्वाधिक प्रभावी कार्यवाहियों में से एक कार्यवाही मुसलमानों को विशेष महत्व देते हुए, पृथक् निर्वाचक मण्डल की पद्धति आरम्भ करना थी। वर्ष 1906 में तत्कालीन वायसराय लार्ड मिन्टो को प्रस्तुत आगा खान की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि मण्डल द्वारा मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचक मण्डल की मांग से यह अवसर उपलब्ध हुआ। लार्ड मिन्टो ने न केवल उनका समर्थन किया बल्कि यह भी कहा कि उस सेवा को देखते हुए, जो मुसलमानों ने साम्राज्य के प्रति की थी, उनकी स्थिति का न केवल उनकी संख्या के अनुसार प्राक्कलन किया जाना था बल्कि उक्त समुदाय के राजनीतिक महत्व और उस सेवा को भी ध्यान में रखा जाना था, जो उन्होंने साम्राज्य के प्रति की थी। मिन्टो-मोर्ले सुधारों द्वारा वर्ष 1909 में उक्त मांग स्वीकार कर ली गई। मामले पर पुनः वर्ष 1919 में मॉन्टेग-चैम्फ्फोर्ड समिति द्वारा विचार किया गया। उनकी रिपोर्ट में यह कहते हुए पृथक् निर्वाचक मण्डलों के विचार का अननुमोदन किया गया कि ऐसे निर्वाचक मण्डल इतिहास की शिक्षा के विरुद्ध थे; उनसे वर्ग-भेद (विभाजन) की स्थिति बनी रहती है; वे विद्यमान संबंधों को रूढ़िबद्ध रूप में स्थिर रखते थे और वे स्वशासन के सिद्धांत के विकास के मार्ग में गम्भीर बाधा पैदा करते थे। सरदार पटेल अपने उत्तर में सम्भवतः इन्हीं अभिव्यक्तियों और ऐसी ही अन्य रायों के प्रतिनिर्देश कर रहे थे। तथापि, दुर्भाग्यवश, साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डलों का सिद्धांत देश में मुसलमानों के लिए और पंजाब में सिखों के लिए स्वीकार कर लिया गया।

34. इस प्रकार धर्म के आधार पर पृथक् निर्वाचक मण्डलों की इस अत्यधिक अवांछनीय पद्धति को आरम्भ करने में सफल होने पर, ब्रिटिश शासक प्रधानमंत्री रैमसे मैकडोनाल्ड के साम्प्रदायिक अधिनिर्णय के अधीन 1932 में दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचक मण्डलों की प्रस्थापना करके, लोगों को और विभाजित करने के उद्देश्य से उसे विस्तारित करने के लिए अग्रसर हुए। उस समय तक देश का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथ में आ गया था, जिन्होंने प्रस्तावित उपाय के खतरनाक परिणाम को पूर्णतः महसूस किया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री के अस्थायी अवधि के लिए भी उसे स्वीकार करने के सुझाव को अस्वीकार करते हुए, उन्होंने आमरण अनशन आरम्भ करने का विनिश्चय करके उक्त विभीषिका (बुराई) से लड़ने के लिए अपने जीवन को भी दाव पर लगा दिया। शासकों को झुकना पड़ा और उन्होंने अपने इस कदम को वापस ले लिया तथा मामले का प्रसिद्ध यर्वदा समझौते द्वारा निपटारा किया गया। तथापि मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचक मण्डल अकृत नहीं किया जा सका और उसे भारत शासन अधिनियम, 1935 में प्रभावी बनाया गया, अंततः जिसके कारण देश का विभाजन हुआ।

35. इसी पृष्ठभूमि में संविधान-सभा में वाद-विवाद आरम्भ हुआ और केन्द्रीय तथा राज्य, दोनों ही, स्तरों पर संयुक्त निर्वाचक मण्डल के पक्ष में सलाहकार समिति की सिफारिशें स्वीकार कर ली गईं। यहां यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि संविधान के मूल प्रारूप में ऐसा कोई अभिव्यक्त उपबंध नहीं था, जिसमें यह घोषित किया गया हो कि संसद् और राज्य विधानमण्डलों के लिए निर्वाचन संयुक्त निर्वाचक मण्डल के आधार पर होंगे, और मामला संविधान के प्रारूप के अनुच्छेद 290 और 291 के अधीन सहायक विधान द्वारा विचार किए जाने के लिए छोड़ दिया गया (देखें—शिवराव कृत "फ्रेमिंग ऑफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन," खण्ड 2, पृष्ठ 141)। इस विवाद्यक पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श करने के पश्चात् यह महसूस किया गया कि पृथक् निर्वाचक मण्डलों के लिए कोई भी उपबंध राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए घातक विषाणु होगा। संविधान सभा ने सदा के लिए उक्त विचार को अस्वीकार करना ठीक समझा और मामले को बाद में विचार करने के लिए नहीं छोड़ा। तदनुसार निम्नलिखित रूप में अनुच्छेद 325 अंगीकृत किया गया :—

> "325. धर्म, मूलवंश, जाति या लिंग के आधार पर किसी व्यक्ति का निर्वाचक-नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र न होना और उसके द्वारा किसी विशेष निर्वाचक-नामावली में सम्मिलित किए जाने का दावा न किया जाना—
>
> संसद् के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन या प्रत्येक सदन के लिए निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र के लिए एक साधारण निर्वाचक-नामावली होगी और केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या इनमें से किसी के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसी किसी नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र नहीं होगा या ऐसे किसी निर्वाचन-क्षेत्र के लिए किसी विशेष निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किए जाने का दावा नहीं करेगा।"

36. सुनवाई के दौरान यह दलील भी दी गई कि यदि संविधान द्वारा विधानमण्डलों में नामनिर्देशनों का किया जाना अनुज्ञात किया गया है, तो संघ के लिए पृथक् निर्वाचक-मण्डलों के सर्जन पर किस प्रकार आक्षेप उठाया जा सकता है। मैं उक्त दोनों बातों में कोई सादृश्य नहीं पाता हूं। देश में प्रत्येक स्तर पर किसी न किसी रूप में जनतांत्रिक सरकार की स्थापना के पश्चात् संविधान के अधीन नामनिर्देशन किसी प्राधिकारी/प्राधिकरण द्वारा विधानमण्डल में सदस्य को लाने के लिए शक्ति के प्रयोग की कोटि में आता है, जो अंततः लोगों का प्रतिनिधित्व करता है, यद्यपि, प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया कुछ कम अंतर्वलित हो सकती है। जहां तक सिक्किम में थोड़े से बौद्ध मठों का संबंध है, यह नहीं कहा जा सकता है कि वे उक्त पद के किसी भी अर्थ में सिक्किम के लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन धार्मिक संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करने के लिए विधानमण्डल में स्थान आबंटित करना स्वतः एक बुराई है; और उसके पश्चात् आरक्षित स्थान को अधिभोगाधीन (अपने कब्जे में) करने के लिए अपने प्रतिनिधि को निर्वाचित करने हेतु उनमें अनन्य अधिकार निहित करना उस बुराई को और बढ़ाना है। मैं नहीं समझता कि नामनिर्देशनों से संबंधित संविधान के किसी भी उपबंध से इसकी तुलना की जा सकती है।

संविधान की सम्पूर्ण स्कीम से यह स्पष्ट है कि उसके आधारभूत दर्शन द्वारा भारत में पृथक्, निर्वाचक मण्डल की संकल्पना को स्पष्ट रूप

से अस्वीकार कर दिया गया है। ऊपरनिर्दिष्ट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सलाहकार समिति के विचार-विमर्श और संविधान को अंतिम रूप देने से पूर्व संविधान सभा में होने वाले वाद-विवाद से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। मैं यह मानने के लिए कोई कारण नहीं पाता हूं कि संविधान में अनुच्छेद 371-च (च) अंतःस्थापित करते समय, इस आधारभूत और महतवपूर्ण विषय पर निष्ठा को पूर्णतः उलट दिया गया, जो अन्यथा भी अनुज्ञेय नहीं था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शेष संविधान के आशय से संगत, अनुच्छेद 371-च(च) में विधानसभा निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन से संबंधित उपबंध का उसी अर्थ में निर्वचन किए जाना है, जिस अर्थ में उक्त पद को अन्य उपबंधों में प्रयुक्त किया गया है। अनुच्छेद 371-च के खंड (च) में न तो उसकी स्पष्ट भाषा द्वारा और न अर्थान्वयन या आशय द्वारा, पृथक् निर्वाचक मण्डल को अनुज्ञात किया गया है, और भिन्न अर्थान्वयन करने का कोई भी प्रयास न केवल अत्यधिक कृत्रिम और काल्पनिक होगा बल्कि उससे संविधान के एक आधारभूत लक्षण का भी उल्लंघन होगा। तदनुसार मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 25क के उपबंध संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य हैं और यह बात धारा 7(1क)(ग) को विखण्डित करने का एक और आधार है।

37. जहां तक भूटिया लेप्चाओं के पक्ष में 12 स्थानों के आरक्षण का संबंध है, वह आधार, जिसका उसे कायम रखने के लिए प्रत्यर्थियों द्वारा अवलंब लिया गया है, तारीख 8 मई, 1973 के त्रिपक्षीय करार में आधारभूत अधिकारों के शीर्ष के अधीन पांचवे निबंधन से युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। उक्त निबंधन इस प्रकार है—

> "(5) निर्वाचन पद्धति को इस प्रकार तैयार किया जाएगा, जिससे जनसंख्या के विभिन्न वर्गों का विधानसभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो सके। विधानसभा और कार्यकारी परिषद् की साईज और संरचना ऐसी होगी, जैसी समय-समय पर विहित की जाए और यह सुनिश्चित करने की सावधानी बरती जाएगी कि जनसंख्या का कोई विशेष वर्ग मुख्यतः अपने जातीय मूल के कारण आधिपत्य की स्थिति अर्जित नहीं करता है और भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों तथा सिक्किमी नेपालियों के, जिनमें सौंग और अनुसूचित जाति के मूल के लोग भी सम्मिलित हैं, हितों को पूर्ण संरक्षण प्रदान किया जाता है।"

यह भी कहा गया है कि इस त्रिपक्षीय करार को देखते हुए, तारीख 5 फरवरी, 1974 को उद्घोषणा की गई, जिसके द्वारा 32 की कुल संख्या में से 16 निर्वाचन-क्षेत्रों को भूटिया-लेप्चा लोगों के पक्ष में आरक्षित किया गया और जब सिक्किम शासन अधिनियम, 1974 अधिनियमित किया गया, जो तारीख 4 जुलाई, 1974 को प्रवृत्त हुआ। तब धारा 7 में निम्नलिखित उपबंध सम्मिलित किया गया:—

> *"7. (1) सिक्किम विधानसभा के लिए निर्वाचनों के प्रयोजन के लिए सिक्किम को ऐसी रीति में निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित किया जाएगा, जैसी विधि द्वारा अवधारित की जाए।
>
> (2) सिक्किम सरकार यह उपबंध करने के प्रयोजन के लिए नियम बना सकेगी कि विधानसभा में जनसंख्या के विभिन्न वर्गों का पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व होता है, अर्थात् लेप्चा या भूटिया मूल के सिक्किम लोगों और नेपाली मूल के सिक्किम के लोगों तथा अन्य सिक्किमी लोगों के, जिनमें सौंग और अनुसूचित जातियों के लोग भी सम्मिलित हैं, विधिसम्मत अधिकारों और हितों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करते हुए, जनसंख्या के किसी एक विशेष वर्ग को मुख्यतः उसके जातीय मूल के कारण सिक्किम के मामलों में आधिपत्य की स्थिति अर्जित करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाता है।"

इन परिस्थितियों में, भारत के संविधान का 35वां संशोधन किया गया, जो तारीख 23 फरवरी, 1975 से प्रवृत्त हुआ, और इस सिक्किम भारत संघ से सहबद्ध हो गया। तत्पश्चात् संविधान का 36वां संशोधन किया गया, जिसके द्वारा खण्ड (च) सहित अनुच्छेद 371-च अंतःस्थापित किया गया। खण्ड (च) इस प्रकार है:—

> "(च) संसद् सिक्किम की जनता के विभिन्न विभागों के अधिकारी और हितों की सुरक्षा करने के प्रयोजन के लिए सिक्किम राज्य की विधानसभा में उन स्थानों की संख्या के लिए जो ऐसे विभागों के अभ्यर्थियों द्वारा भरे जा सकेंगे और ऐसे सभी निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन के लिए उपबंध कर सकेगी जिनसे केवल ऐसे विभागों के अभ्यर्थी ही सिक्किम राज्य की विधानसभा के निर्वाचन के लिए खड़े हो सकेंगे;"

और खण्ड (ट) इस प्रकार है:—

> "(ट) सिक्किम राज्य में समाविष्ट राज्यक्षेत्र में या उसके किसी भाग में नियत दिन से ठीक पहले प्रवृत्त सभी विधियां वहां तब तक प्रवृत्त बनी रहेंगी जब तक किसी सक्षम विधानमण्डल या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा उनका संशोधन या निरसन नहीं कर दिया जाता है।"

यह तर्क दिया गया है कि इस प्रकार लोक प्रतिनिधित्व अधिनियमों के आक्षेपित उपबंधों को 36वें संविधान संशोधन द्वारा पूर्ण संरक्षण प्रदान किया गया।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है:—

"7. (1) For, the purpose of elections to the Sikkim Assembly, Sikkim shall be divided into constituencies in such manner as may be determined by law.

(2) The Government of **Sikkim** may make rules for the purpose of providing that the **Assembly** adequately represents the various sections of the population, that is to say, while fully protecting the legitimate rights and interests of Sikkimese of Lepcha or Bhutia origin and of Sikkimese of Nepali origin and other Sikkimese, including stongs and Scheduled Castes no single section of the population is allowed to acquire a dominating position in the affairs of Sikkim mainly by reason of its ethnic origin."

38. मैं प्रत्यर्थियों की ओर से दी गई दलील को स्वीकार करने में अनेक कारणों से स्वयं को असमर्थ पाता हूं। आगे बढ़ने से पूर्व, सुसंगत परिस्थितियों और मामले के इस पहलू से संगत दस्तावेजों का सरसरी तौर पर सर्वेक्षण करना उपयोगी होगा।

39. चोग्याल निरंकुश शासक थे, जो अपनी आत्यंतिक (पूर्ण) शक्ति बनाए रखने के लिए व्यग्र थे, जबकि लोग बदलते विश्व में अपने अधिकारों के प्रति अधिकाधिक सजग हो रहे थे। इस शती के मध्य तक, भारत में हुई घटनाओं से प्रोत्साहन पाकर, जो न केवल एक पड़ोसी देश था बल्कि जिस पर सिक्किम, प्रतिरक्षा सहित, अपनी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं के लिए अनन्यतः निर्भर था, वे सही रूप में जनतांत्रिक सरकार की स्थापना की मांग करते हुए, एक सक्षम बल तैयार करने में सफल हुए। अभिलेख में सामग्री से यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि शक्ति के इस संघर्ष में, चोग्याल को भूटिया-लेप्चा लोगों का अत्यधिक अवलम्ब (समर्थन) लेना पड़ा, जो उनके निकट थे, क्योंकि वह उसी समूह के थे। प्रत्यर्थियों के पक्षकथन के अनुसार भूटिया-लेप्चा लोग सिक्किम में नेपालियों से पहले आए थे और नेपालियों को ब्रिटिश सर्वोपरि सत्ता द्वारा अपनाई जाने वाली नीति के कारण ही इस क्षेत्र में लाया गया था। अभिलेख से यह भी दर्शित होता है कि काफी समय पहले जब नेपाली लोग वहां आ रहे थे, इस क्षेत्र में नियुक्त ब्रिटिश जनरल के समक्ष अभ्यापति की गई, जो निष्फल रही। भूटिया-लेप्चा लोग, जो बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, लामाओं के प्रति अत्यधिक सम्मान प्रदर्शित करते थे, जिन्हें चोग्याल का संरक्षण प्राप्त था। उनकी उपयोगिता को समझते हुए, चोग्याल ने बाद में वर्ष 1958 में पृथक् निर्वाचक-मण्डल के आधार पर उनके लिए एक स्थान आरक्षित कर दिया। जब प्रशासन में प्रभावी सहभागिता की जनता की मांग प्रबल हो गई, तब चोग्याल ने एक परिषद् की स्थापना करके तुष्टीकरण की नीति अपनाई, जहां आरम्भ में 12 सदस्यों को एक और भूटिया-लेप्चा लोगों और दूसरी ओर नेपाली लोगों के बीच आधा-आधा (बराबर-बराबर) विभाजित किया गया (देखें तारीख 28 दिसंबर, 1952 की उद्घोषणा)। किंतु शीघ्र ही उन्होंने यह समझ लिया कि जब तक वह अपने कुछ और नामनिर्देशितियों को सम्मिलित करने का अधिकार स्वयं के लिए आरक्षित नहीं रखेंगे, उनकी स्थिति खतरे में पड़ जायेगी। अतः उन्होंने शीघ्र ही तीन मास के अंदर तारीख 23 मार्च, 1953 को एक और उद्घोषणा जारी की, जिसमें यह घोषित किया गया था कि परिषद् में 6 और सदस्य सम्मिलित किए जाएंगे, जिन्हें स्वविवेकानुसार उनके द्वारा ही नामनिर्देशित किया जाएगा और जिनमें परिषद् का अध्यक्ष भी सम्मिलित होगा। अनुच्छेद 26 में उन्होंने अभिव्यक्त रूप से यह घोषित किया कि अन्य अनुच्छेदों के उपबंधों के होते हुए भी, वह परिषद् द्वारा किए गए किसी विनिश्चय के संबंध में निषेधाधिकार का प्रयोग करने और उसके स्थान पर स्वयं अपना विनिश्चय प्रतिस्थापित करने की अपनी शक्ति प्रतिधारित किए रहेंगे।

40. चोग्याल द्वारा उठाए गए कदमों से लोकतंत्र की मांग को नियंत्रित नहीं किया जा सका और जनआन्दोलन को अधिकाधिक समर्थन प्राप्त होता गया। अंततः, न केवल चोग्याल से मुक्ति प्राप्त करने में बल्कि लोकतंत्र के लिए उनकी मांग के विषय में भी लोगों की विजय हुई, जिसकी स्थापना भारत के आधार पर ही की जानी थी। निस्संदेह, चोग्याल ने अपने प्राधिकार को बनाए रखने के निष्फल प्रयास में, एक न एक पद्धति द्वारा प्रबल लोक मत को दबाने का भरसक प्रयास किया और उस उद्देश्य से उन्होंने भूटिया-लेप्चा लोगों को अधिक महत्व देने का भी प्रयास किया, जिस समूह के वह स्वयं थे और जिनके समर्थन पर वह भरोसा कर सकते थे, और इसी स्थिति में तारीख 8 मई, 1973 का त्रिपक्षीय करार निष्पादित किया गया। करार के पैरा 5 के अर्थ और आशय का निर्धारण करते समय, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि चोग्याल उसका एक पक्षकार होने जा रहे थे और वह अपनी रणनीति तैयार करने के लिए निबन्धनों में कुछ रखवाने का निराशापूर्वक प्रयास कर रहे थे। त्रिपक्षीय करार के आरम्भिक वाक्य में ही सिक्किम के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था की परिकल्पना किए जाने का वर्णन किया गया है और चोग्याल ने यह घोषित करते हुए सिक्किम के लोगों के स्वर में स्वर मिलाया कि उनका भी इस बाबत समाधान हो गया था और वह सिक्किम में पूर्णतः उत्तरदायी सरकार की स्थापना के पक्ष में थे। करार के अन्य उपबंधों में स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित होता है कि इसका आशय भारत में वर्तमान जनतांत्रिक सरकार के समान ही सिक्किम में जनतांत्रिक सरकार उपलब्ध कराना था। उसमें (करार में) मूल अधिकारों, विधिसम्मत शासन और स्वतंत्र न्यायपालिका और निम्नलिखित की गारण्टी का भी उपबंध किया गया था:—

> "वयस्क मताधिकार पर आधारित निर्वाचन पद्धति, जो 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत के आधार पर जनता के सभी वर्गों को साम्यापूर्ण प्रतिनिधित्व प्रदान करेगी।"
>
> (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)।

तीनों पक्षकारों ने आधारभूत मानव-अधिकारों और लोगों की आधारभूत स्वतंत्रताओं को सुनिश्चित करने और यह सुनिश्चित करने के लिए भी अपनी वचनबद्धता व्यक्त की कि:—

> "सिक्किम के लोगों को एक व्यक्ति एक मतः के सिद्धांत को प्रभावी बनाने के लिए वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन का अधिकार प्राप्त होगा।"
>
> (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)।

विधि के समक्ष समता और न्यायपालिका की स्वतंत्रता का आश्वासन दिया गया उसमें यह भी कहा गया कि चोग्याल और जनता के प्रतिनिधि ने भारत सरकार से विधि और व्यवस्था की स्थापना और अच्छे प्रशासन के लिए उत्तरदायित्व संभालने तथा सांविधानिक सरकार के और विकास (की स्थापना) और राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने और सहायता करने के लिए मुख्य कार्यकारी के रूप में वर्णित प्रशासन के अध्यक्ष का उपबंध करने के लिए भी अनुरोध किया था। भारत के निर्वाचन आयोग के प्रतिनिधि के पर्यवेक्षण के अधीन स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचन कराने के लिए भी दृढ़ विनिश्चय किया गया। मुख्य कार्यकारी को भारत सरकार द्वारा नामनिर्देशित किया जाना था और इस संबंध में केवल प्ररूपिक आदेश पारित किए जाने का कार्य ही चोग्याल के लिए छोड़ा गया। करार के अंत में इस बात पर बल दिया गया कि भारत सरकार सिक्किम की प्रतिरक्षा और राज्य क्षेत्रीय अखण्डता तथा वैदेशिक संबंधों के विनियमन के लिए अनन्यतः उत्तरदायी थी, चाहे वे राजनीतिक, आर्थिक या वित्तीय हों, और इन उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए आवश्यक शक्तियों

की पुनः अभिपुष्टि की गई। उक्त दस्तावेज के परिशीलन से स्पष्टतः यह उपदर्शित होता है कि सम्पूर्ण करार में भारतीय संविधान की भावना (आत्मा) व्याप्त थी और उसके निबंधनों का, हमारे संविधान में सन्निहित मुख्य सिद्धांतों का सम्मान करते हुए, प्रारूपण किया गया था। अतः यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि उक्त करार का ऐसा निर्वचन नहीं किया जा सकता है, जो उसे भारतीय संविधान के सांविधानिक प्रतिमान से विचलन करने वाला बनाएगा।

41. इस संबंध में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि (चूंकि) उक्त करार में पैरा 5 सम्मिलित था जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, (तो) क्या उससे इस करार में भारतीय संविधान से असंगत कोई तत्व आ जाता है। मेरी राय में, इसका उत्तर नकारात्मक है। पैरा 5 में परिकल्पित स्कीम के अधीन रक्षोपाय का भारतीय संविधान द्वारा उपबंध किया जा सकता था। भाग 3 सहित, संविधान के विभिन्न भागों में अनेक उपबंध इस संबंध में सुसंगत हैं। सभी वर्गों को ऋजुतापूर्ण प्रतिनिधित्व संविधान का सरोकार भी रहा है और उस उद्देश्य से, संसद् और राज्य विधानमण्डल में कुछ वर्गों के पक्ष में स्थानों, के आरक्षण के लिए उपबंध किए गए हैं और अल्पसंख्यकों को कुछ विशेष अधिकार दिए गए हैं। मेरे मतानुसार, यह बहुमत द्वारा अऋजु आधिपत्य के विरुद्ध पर्याप्त गारण्टी (गठित करते) हैं। निस्संदेह इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि शक्ति अल्पसंख्यकों के हाथ में केन्द्रित होगी या यह कि राज्य का काम-काज चलाने के विषय में, विभिन्न समूहों के बीच गणितीय रूप से समान निबंधनों पर प्राधिकार का विभाजन होगा; क्योंकि प्रथम बात के परिणामस्वरूप स्वयं जनतंत्र की अस्वीकृति होगी और द्वितीय बात के परिणामस्वरूप एक अव्यवहार्य स्थिति उत्पन्न होगी, जिसकी परिणति अव्यवस्था में होगी। जैसा कि ऊपरनिर्दिष्ट दस्तावेजों में बार-बार दोहराया जा चुका है, वयस्क मताधिकार के सिद्धांत से जनतंत्र की संकल्पना उपदर्शित होती है, जिसकी सिक्किम में स्थापना की जानी थी। तारीख 5 फरवरी, 1974 की उद्घोषणा में, विधानसभा में 32 स्थानों की कुल संख्या को दो समूहों के बीच आधा-आधा (बराबर-बराबर) विभाजित किया गया, किंतु यहां यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण नहीं है कि जैसे ही निर्वाचन के पश्चात् विधानसभा का गठन किया गया, वैसे ही उसने सिक्किम शासन अधिनियम, 1974 की धारा 6(2) में यह घोषित करके स्थानों की समानता नियत करने वाले उपबंध को तुरन्त उपांतरित कर दिया कि मामला विधि द्वारा अवधारित किया जाएगा। इस आशय का कि जनसंख्या का कोई एक विशेष वर्ग मुख्यतः अपने जातीय मूल के कारण आधिपत्य की स्थिति अर्जित नहीं करेगा, यह अर्थ नहीं है कि किसी विशेष वर्ग द्वारा धारित बहुमत विधानमण्डल में परिलक्षित नहीं होने दिया जाएगा। "आधिपत्य की स्थिति" पद से मात्र बहुमत से कुछ अधिक चीज उपदर्शित होती है जो चीज आशयित थी, वह जनसंख्या के एक विशेष वर्ग द्वारा, अन्य लोगों के विधिसम्मत अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए, अपनी स्थिति का दुरुपयोग किए जाने की सम्भावना को समाप्त करना था। ऐसी अवांछनीय स्थिति के खतरे को ऐसी पद्धतियों को अंगीकृत करके समाप्त किया जा सकता था और किया भी जाना चाहिए था, जिनका भारतीय संविधान में उपबंध किया गया है। विधिसम्मत रूप से यह दलील नहीं दी जा सकती है कि भारतीय संविधान के अधीन इस संबंध में उपाय किसी भी प्रकार अपर्याप्त है। इस देश में अल्पसंख्यक लोगों को कुछ विषयों में विशेष प्रसुविधाएं प्राप्त हैं, जो बहुसंख्यक लोगों को प्राप्त नहीं हैं और इसी कारण विभिन्न समूहों द्वारा अल्पसंख्यक स्थिति प्राप्त करने के लिए बार-बार प्रयास किए गए हैं, जैसा कि प्रतिवेदित (संप्रकाशित) मामलों से स्पष्ट है। अन्यथा मानने का आवश्यक परिणाम यह अभिनिर्धारित करना होगा कि शेष देश को लागू संविधान के अधीन, अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के "आधिपत्य" के विरुद्ध कोई संरक्षण प्राप्त नहीं है, और इस देश में विधिसम्मत शासन और सबके लिए अवसर और प्रास्थिति की समता के बारे में हमारा दृष्टिकोण विश्व के समक्ष किया गया एक थोथा दावा है।

42. अगला प्रश्न यह है कि क्या अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के उपबंधों में संसद् द्वारा केवल ऐसी रीति में अपनी शक्ति का प्रयोग किए जाने की परिकल्पना की गई है और उसे ऐसा करने के लिए प्राधिकृत किया गया है, जो शेष देश को लागू संविधान के सुसंगत उपबंधों से संगत होगी, यदि वह सिक्किम की विशेष दशाओं (परिस्थितियों) के प्रतिनिर्देश से उक्त उद्देश्य को पूरा करने में समर्थ है; या उनके द्वारा संसद् को इस संबंध में कोई भी विनिश्चय करने के लिए अनुज्ञात किया गया है, जिसमें ऐसे अध्युपाय भी सम्मिलित हैं, जो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर, सिक्किम में पहले जैसी स्थिति को आगे भी बनाए रखेंगे। पहले उपदर्शित कारणों से मेरा यह मत है कि खण्ड (च) द्वारा संसद को केवल ऐसे कदम उठाने के लिए ही अनुज्ञात किया गया है जो पहले से चले आ रहे संविधान के उपबंधों से संगत हों, जिससे कि सिक्किम का भारत में पूर्णतः विलय हो सके और उसे अन्य राज्यों के समान स्तर पर रखा जा सके। यदि उन तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाता है, जिनके परिणामस्वरूप अंततः सिक्किम का भारत में विलय हुआ, तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य होगा। उनके प्रति पहले ही पैरा 10 में संक्षेप में निर्देश किया जा चुका है। तारीख 5 फरवरी, 1974 की उद्घोषणा के पश्चात् सिक्किम में निर्वाचन कराए गए लोगों का मुख्य प्रतिनिधि सिक्किम कांग्रेस दल था, जैसा कि निर्वाचन के परिणाम से साबित हो गया है, जिसमें सिक्किम कांग्रेस ने कुल 32 स्थानों में से 31 स्थान प्राप्त किए। चुनाव घोषणा-पत्र में, जिसके आधार पर लोगों ने प्रायः सर्वसम्मति से सिक्किम कांग्रेस के पक्ष में मतदान किया, अन्य बातों के साथ-साथ यह घोषित किया गया—

> "हम उन्हीं लोकतांत्रिक अधिकारों और संस्थाओं को भी प्राप्त करना चाहते हैं, जो भारत के लोगों को गत 25 वर्षों से प्राप्त हैं"।
>
> (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)।

लोगों को सत्यनिष्ठापूर्वक दिए गए इस वचन का सम्मान करते हुए, विधानसभा ने तारीख 10 अप्रैल, 1975 को सर्वसम्मति से एक संकल्प पारित किया और उसे अनुमोदन हेतु जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रकार जनमतसंग्रह आयोजित किया, जिसमें लगभग 64 प्रतिशत मतदाताओं ने अपने मत का प्रयोग किया। कुल मतदाताओं के लगभग 62 प्रतिशत भाग ने संकल्प का अनुमोदन किया और केवल दो प्रतिशत से कम मतदाताओं ने ही उसके विरोध में मतदान किया। संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 के उद्देश्यों और कारणों के कथन

1993(2) eILR(PAT) SC 143

में राज्य विधानसभा के उक्त सर्वसम्मत संकल्प के प्रतिनिर्देश किया गया है, जिसमें चोग्याल के लगातार लोक-विरोधी कार्यकलापों की अवेक्षा करने के पश्चात् चोग्याल का पद समाप्त करने और सिक्किम को भारत का एक संघटक एकक बनाने का विनिश्चय किया गया:—

> "चोग्याल का पद एतद्द्वारा उत्सादित किया जाता है और अब से सिक्किम भारत का एक एकक होगा, जिसकी लोकतांत्रिक और पूर्णतः उत्तरदायी सरकार होगी।"

इसी पृष्ठभूमि में, उद्देश्यों और कारणों के कथन में यह भी घोषित किया गया:—

> "5. तदनुसार, सिक्किम को संविधान की प्रथम अनुसूची में पूर्ण राज्य के रूप में सम्मिलित करने और सिक्किम को राज्य सभा में एक स्थान और लोक सभा में भी एक स्थान आबंटित करने की प्रस्थापना की जाती है। सिक्किम की विशेष परिस्थितियों से निपटने और विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक समझे गए उपबंधों को अंतर्विष्ट करते हुए, एक नए अनुच्छेद को अंतःस्थापित करने की भी प्रस्थापना की जाती है।"।
>
> (बल देने के लिए रेखाकंन हमारे द्वारा किया गया है)

43. इस प्रकार यह आशय स्पष्ट था कि सिक्किम के लोगों ने प्रायः सर्वसम्मत अधिमत द्वारा शेष भारत को लागू निबंधनों पर देश के कार्यों (मामलों) में भाग लेने की आकांशा सहित, पूर्ण राज्य के रूप में भारत में सम्मिलित होने का विनिश्चय किया। नया अनुच्छेद अंतःस्थापित करने का विनिश्चय सिक्किम की विशेष परिस्थितियों और आवश्यकताओं की पूर्ति करने के सीमित प्रयोजन के लिए ही आवश्यक समझा गया। अब प्रश्न यह है कि क्या राज्य विधानमण्डल में भूटिया-लेप्चा लोगों का अननुपातिक रूप से उच्चतर प्रतिनिधित्व प्रदान करने वाला उपबंध आवश्यक था। यदि वह आवश्यक नहीं था, तो अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) का इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि उसके द्वारा आक्षेपित कानूनी संशोधनों को संरक्षण प्रदान नहीं किया गया है।

44. यदि हम अनुच्छेद 371-चं के विभिन्न खण्डों पर विचार करते हैं, तो हम यह पाते हैं कि मूल उपबंधों से विचलन करते हुए अनेक अतिरिक्त उपबंध, सिक्किम की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, संविधान में सम्मिलित किए गए हैं। अनुच्छेद 170 द्वारा राज्यों की विधानसभा की न्यूनतम संख्या 60 (स्थान) नियत की गई है, जो सिक्किम जैसे छोटे राज्य के लिए बहुत अधिक थी, जिसकी कुल जनसंख्या केवल तीन लाख है। यह एक विशेष बात थी, जो उसे अन्य राज्यों से प्रभेदित करती थी। प्रतिनिधियों की संख्या का जनसंख्या से अनुपात 60 सदस्यों के सदन को न्यायोचित नहीं ठहराता था और इसलिए खण्ड (क) द्वारा न्यूनतम संख्या केवल 30 नियत की गई स्पष्ट कारणों से, खण्ड (ग) और (ङ) अनुच्छेद में अंतःस्थापित किए जाने पड़े, क्योंकि सिक्किम के प्रतिनिर्देश से नियत दिन अन्य राज्यों के प्रतिनिर्देश से नियत दिन नहीं हो सकता था। लोक सभा में सिक्किम राज्य को एक स्थान आबंटित करने के लिए खण्ड (घ) भी सुसंगत हो गया। जहां तक खण्ड (ख) का संबंध है, वह सिक्किम के मात्र एक "सहबद्ध" राज्य से संघ के पूर्ण राज्य के रूप में सुचारू संपरिवर्तन के लिए अस्थायी अवधि के लिए आवश्यक हो गया। उस अवधि के दौरान, जिसमें विलय के परिणाम को सांविधानिक रूप से कार्यान्वित किया जा रहा था, विषम स्थिति से बचने के लिए, राज्य के कृत्यकारियों को अपने कृत्यों का निर्वहन करने हेतु समर्थ बनाने के लिए विशेष अस्थायी उपबंधों की अत्यंत आवश्यकता थी। यदि अन्य खण्डों पर भी बारीकी से विचार किया जाता है, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि सिक्किम की विशेष आवश्यकताओं को देखते हुए, वे आवश्यक थे। अब प्रश्न यह है कि क्या भूटिया-लेप्चा जनजाति के संरक्षण के लिए, संविधान में पहले से ही उपबंधित रक्षोपाय अपर्याप्त थे, जिससे कि भारत के संविधान से, जैसा कि वह 36वें संशोधन से पूर्व था, असंगत रूप में, आरक्षण के विशेष उपबंध अपेक्षित (आवश्यक) या न्यायोचित हों। भूटिया-लेप्चा जनजाति की समस्या अनेक राज्यों की अन्य जनजातियों की समस्या के समान ही है, जहां उनकी संख्या साधारण जनसंख्या की तुलना में बहुत कम है, और जिस पर संविधान के भाग 16 में सम्मिलित उनके पक्ष में आरक्षण हेतु उपबंधों द्वारा प्रभावी रूप से विचार किया गया है। न्यायोचित रूप में यह सुझाव नहीं दिया जा सकता है कि उक्त आरक्षणों के उपबंधों को अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) में अंतर्विष्ट परिसीमाओं के अधीन रखकर, भारत में जनजातियों को साधारण जनसंख्या के प्रबल बहुमत की दया पर छोड़ दिया गया है। भाग 16 में निहित आरक्षण उनके लिए पर्याप्त संरक्षण के उपाय (के रूप में) माने गए और वर्ष 1975 से, जब सिक्किम का भारत में विलय हुआ पूर्व लगभग साढ़े तीन दशक तक यह बात गलत साबित नहीं हुई थी, अतः यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि भूटिया-लेप्चा लोगों के पक्ष में पर्याप्त रक्षोपाय संविधान में पहले से ही उपलब्ध थे और केवल इस बात की ही आवश्यकता थी कि उन्हें अन्य जनजातियों के समान ही जनजाति के रूप में माना जाए। वस्तुतः इस स्थिति को वर्ष 1978 में ठीक रूप से समझा गया, जब भाग 16 के अनुच्छेद 342 के अधीन राष्ट्रपतीय आदेश जारी किया गया। अनुच्छेद 371-च(च) का निर्वचन जैसा कि प्रत्यर्थियों की ओर से सुझाया गया है, उक्त आदेश के जारी किए जाने से असंगत है। अतः मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि खण्ड (च) का उद्देश्य इस समस्या से निपटना नहीं था और उसके द्वारा संसद् को लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 में धारा 7(1क)(क) और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में धारा 5-क अंतःस्थापित करते हुए, संशोधन (1980 का अधिनियम सं०8) तथा अन्य संबद्ध संशोधन पारित करने के लिए प्राधिकृत नहीं किया गया था। चूंकि उनसे अनुच्छेद 371-च(च) के उपबंधों सहित सांविधानिक उपबंधों का उल्लंघन होता है, अतः वे शक्ति-बाह्य हैं।

45. अब अगला प्रश्न यह है कि क्या अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) को संविधान के आधारभूत लक्षणों के उल्लंघन के आधार पर विखण्डित किया जाना होगा, यदि उसका प्रत्यर्थियों की ओर से सुझाई गई रीति में निर्वचन किया जाता है।

46. भारत के संविधान की उद्देशिका में स्पष्ट रूप से यह घोषित किया गया है कि हम देश के सभी नागरिकों को प्रतिष्ठा और अवसर की समता सहित, सम्पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य गठित करने (बनाने) के दृढ़ संकल्प सहित, संविधान को आत्मार्पित (स्वयं को अर्पित) कर रहे थे। वह प्रश्न, जिसका विचाराधीन प्रश्न से

प्रत्यक्ष संबंध है, यह है कि "लोकतन्त्रात्मक गणराज्य" का क्या अर्थ है। "लोकतंत्र और "लोकतन्त्रात्मक" पदों को विभिन्न देशों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है और अनेक स्थानों पर उन्हें ऐसी वस्तुस्थिति को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, जो उस अर्थ की पूर्ण अस्वीकृति है, जिसमें इन शब्दों को समझा जाता है। वर्तमान शताब्दी के दौरान उक्त शब्दों का बारबार प्रयोग करना अधिकाधिक फैशन की बात बन गया और ऐसा करना उपयोगी भी सिद्ध हुआ और तदनुसार उनका घोर दुरुपयोग किया गया है। हमारा वैसे तथाकथित लोकतंत्र से संबंध (सरोकार) नहीं है, जो अधिकेन्द्रित राज्य (शासन) की स्थापना के लिए प्रारम्भिक कदम के रूप में प्रयुक्त किया जाता है या जो लोगों के समक्ष कपटपूर्ण लोकतंत्र के नाम से रखा जाता है किंतु जो वस्तुतः एक कुलीनतंत्र होता है, जिसमें शक्ति कुछ लोगों के हाथों में ही केन्द्रित रहती है। हमारा ऐसी व्यापकतर सैद्धांतिक संकल्पनाओं से भी सरोकार नहीं है, जिनमें उक्त शब्द को समझा जा सकता है। हमारे संविधान में उसके प्रति इस रूप में निर्देश किया गया है कि उससे उसी चीज का बोध होता है, जो शाब्दिक रूप में उससे अभिप्रेत है, अर्थात् "लोक शक्ति"। वह इस संबंध में लोगों द्वारा शक्ति के वास्तविक, सक्रिय और प्रभावी प्रयोग का प्रतीक है। शुमपेटर ने लोकतंत्र की सरल परिभाषा ही दी है, जो इस प्रकार है:—

> "'लोगों की सरकार चुनने और उसे च्युत करने की क्षमता है'। लोकतन्त्र गियोवानी सारटोरी ने इसी भाव को संस्थागत रूप दिया है और उनका यह कहना है कि लोकतंत्र बहुदलीय पद्धति है, जिसमें बहुमत शासन करता है और अल्पसंख्यकों के अधिकार को सम्मान देता है। वर्तमान संदर्भ में, वह सरकार का प्रशासन चलाने में लोगों की राजनीतिक सहभागिता के प्रतिनिर्देश है। उससे उस वस्तुस्थिति का बोध होता है, जिसमें प्रत्येक नागरिक को राज्यतंत्र में समान सहभागिता का अधिकार सुनिश्चित किया जाता है। उक्त पद को भारतीय संविधान में और सिक्किम के लोगों द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। सिक्किम के भारत में विलय से पूर्व विभिन्न दस्तावेजों में 'एक व्यक्ति, एक मत' के नियम पर बार-बार दिया गया बल सरकार की उस पद्धति को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है, जिसे सिक्किम के लोगों ने प्रबल बहुमत द्वारा स्थापित करने का विनिश्चय किया और जो ठीक वैसी ही थी, जैसी कि भारतीय संविधान के अधीन वाली पद्धति। इस लक्ष्य को मात्र एक व्यक्ति को एक मत आबंटित करके प्राप्त नहीं किया जा सकता, जो वे किसी विशेष अभ्यर्थी के पक्ष में या विशेष व्यक्ति समूह के पक्ष में डाल सकते हैं, जिसका/जिनका अन्य लोगों द्वारा इस प्रयोजन के लिए चयन किया गया हो, और जिसमें उनका कोई हाथ (दखल) न हो। ऐसे मामले में परिणाम यह होगा कि जहां इस वर्ग के एक व्यक्ति को एक पूर्ण मत की शक्ति दी जाती है, वहीं अन्य लोगों को केवल उसके एक भाग से ही संतुष्ट रहना पड़ता है। यदि राज्य में, 10 प्रतिशत जनसंख्या के पक्ष में सदन के स्थानों में 90 प्रतिशत आरक्षण है और केवल शेष 10 प्रतिशत स्थान बहुसंख्यक जनसंख्या के लिए छोड़े जाते हैं, तो अनुच्छेद 326 में सम्मिलित, वयस्क मताधिकार के सिद्धांत की बलि चढ़ जाएगी। न केवल उन्हें उपलब्ध 10 प्रतिशत स्थानों के लिए बल्कि 90 प्रतिशत आरक्षित स्थानों के लिए भी जनसंख्या के 90 प्रतिशत के भाग को मतदान करने की अनुज्ञा देकर, मामले में मूल दोष का उपचार नहीं हो जाता है। निर्वाचन में अभ्यर्थी का चयन और अभ्यर्थी के रूप में खड़े होने का उसका अधिकार वयस्क मताधिकार के सिद्धांत में अर्थात्, 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत में, अंतर्निहित हैं। लोगों को यह बताता कि उन्हें चयनित समूह के किसी व्यक्ति का निर्वाचन करने की छूट है, अभ्यर्थी का स्वतंत्र चयन नहीं माना जा सकता है। ऐसा करना केवल दिखावटी ही होगा, जिस पर कुलीन तंत्र की वास्तविकता को छिपाने का एक झीना आवरण मात्र लगा हुआ है। वह नाम का ही लोकतंत्र होगा; वह एक बहाना मात्र होगा और यदि उसे सीमा का अतिक्रमण करने के लिए अनुज्ञात किया जाता है, जिससे कि 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत के आधार का ही उल्लंघन हो जाता है और उसे अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) में सम्मिलित सांविधानिक रक्षोपाय द्वारा नियंत्रित नहीं किया जाता है। (देखें: उपर्युक्त पैरा 12), तो वह लोगों के विरुद्ध किए गए बड़े भारी कपट की कोटि में आएगा। जहां तक 'संघ स्थान' का संबंध है, यह झीना आवरण भी हटा दिया गया है। इस बात को भलीभांति समझ लिया जाना चाहिए कि कमजोर वर्ग के पक्ष में आरक्षण का उपबंध करने का प्रयोजन 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत पर आधारित लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धांत को सफल होने में सहायता देना है। अननुपातिक रूप से अत्यधिक आरक्षण एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को सर्जित करता है, जो दूसरों के साथ बराबरी के स्तर पर नहीं आता है बल्कि एक उच्चतर स्तर पर रख दिया जाता है जिससे विभिन्न वर्गों के बीच अस्वस्थ (हानिकर) प्रतियोगिता पैदा होती है, जिसके कारण विभिन्न वर्गों के बीच घृणा और अविश्वास की भावना पैदा होती है और विभाजक शक्तियों को बल मिलता है। यह बात भारत के (सिक्किम सहित) लोगों द्वारा संजोए गए मूल्यों की अस्वीकृति की कोटि में आती है, जो उनके संघर्ष और कष्टों की कहानी से प्रकट होते हैं, जिसकी परिणति भारतीय संविधान की विरचना और (1975 में सिक्किम के एक राज्य के रूप में विलय में) हुई । संविधान के संशोधन द्वारा भी ऐसा करना अनुज्ञेय नहीं है।"

47. हमारे जैसे संविधानों की खोज में, कनाडा और आस्ट्रेलिया की ओर देखना उचित होगा, न कि साइप्रेस की ओर। किंतु कनाडा और आस्ट्रेलिया के संविधान भी अनेक पहलुओं में, हमारे संविधान से भिन्न हैं, जिनमें कुछ आधारभूत सिद्धांत और विशेषताएं भी सम्मिलित हैं। लिखित संविधान में सम्मिलित अपरिवर्तनीय आधारभूत प्रतिबद्धताएं किसी व्यक्ति की आत्मा के समान हैं, जिसे प्रतिरोपण द्वारा या अन्यथा प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता है और यह जानने के लिए कि किसी विशेष संविधान

1993(2) eILR(PAT) SC 143

के प्रति निर्देश से वे विशेषताएं क्या हैं, अन्य बातों के अतिरिक्त, उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर, जिसमें संविधान विरचित किया गया है, तथा लोगों के संघर्ष और बलिदान के अनुक्रम में और अन्तर्वस्तु द्वारा प्रकटीकृत दृढ़ आधारभूत प्रतिबद्धताओं को, जो उससे पूर्व हुई हों (यदि कोई हों), चिंतन प्रक्रिया और पारम्परिक विश्वास और उन सामाजिक बुराइयों पर भी विचार किया जाना आवश्यक है, जिनका दूर किया जाना आशयित है। ये बातें अलग-अलग देशों में अलग-अलग होती हैं। अतः आधारभूत दर्शन भिन्न-भिन्न संविधानों में भिन्न-भिन्न होता है। संविधान का स्वयं अपना व्यक्तित्व होता है और, जैसी कि स्थिति मनुष्यों की होती है, उसकी आधारभूत विशेषताओं को अन्य संविधान के अनुसार परिभाषित नहीं किया जा सकता है। "लोकतंत्र" और "गणराज्य" पदों से संपूर्ण विश्व में ठीक एक ही विचार का बोध नहीं होता है और हमारे संविधान के प्रतिनिर्देश से उक्त पदों के अर्थ और परिधि को अवधारित करने के लिए किसी अन्य संविधान के प्रति निर्देश करने से अधिक सहायता नहीं मिल सकती है। जब हम आत्म-विवेचन का कार्य अपने हाथ में लेते हैं, तो हम 'संपूर्ण विश्व एक बड़ा परिवार है' (वसुधैव कुटुम्बकम्) है— इस आदर्श वाक्य को और एकता के उद्देश्य के प्रति पारिणामिक वचनबद्धता नहीं भूल सकती हैं, जिसके कारण लोगों ने सब मनुष्यों के लिए समान प्रतिष्ठा के आधार पर जनतांत्रिक सरकार द्वारा विदेशी शासन को प्रतिस्थापित किए जाने के लिए अभूतपूर्व स्तर पर मृत्यु विनाश और बर्बादी का वरण किया। यह तथ्य कि वे अखण्ड स्वतंत्र देश के लिए अपने प्रयास में सफल नहीं हुए, वर्तमान संदर्भ में सुसंगत नहीं है, क्योंकि उससे जनतंत्र में उनका विश्वास कम नहीं हुआ, जहां प्रत्येक व्यक्ति बराबर माना जाता है, और इस दृढ़ संकल्प के साथ, वे संविधान बनाने के लिए अग्रसर हुए। संविधान के उपबंधों पर विचार करने से इस संबंध में कोई शंका नहीं रह जाती है कि संविधान बनाते समय, इस विचार को मार्गदर्शक तत्व के रूप में सामने रखा गया है। "जनतंत्र" और "गणराज्य" को तदनुसार समझा जाना है। अब हम संविधान पर इन्हीं बातों के प्रकाश में विचार करेंगे।

48. जैसा कि उद्देशिका द्वारा स्पष्ट किया गया है, संविधान द्वारा परिकल्पित जनतंत्र की गुणवत्ता सभी नागरिकों को न केवल अवसर की बल्कि प्रतिष्ठा की समता भी सुनिश्चित करती है। यह समता सिद्धांत संविधान के विभिन्न भागों में अन्तर्विष्ट अनेक अनुच्छेदों में स्पष्ट रूप से उजागर किया गया है, जिनमें भाग-3 जो मूल अधिकारों के संबंध में है, और भाग 4, जिसमें राज्य की नीति के निदेशक तत्व अधिकथित किए गए तथा भाग-16 जिसमें कतिपय वर्गों के संबंध में विशेष उपबंध हैं, भी सम्मिलित हैं। यह भावना संपूर्ण संविधान में व्याप्त है, जैसा कि अन्य उपबंधों में भी देखा जा सकता है। जब राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन हेतु अर्हता का प्रश्न उद्भूत होता है, तब सभी वर्गों के नागरिक अनुच्छेद 58 और 59 द्वारा समान व्यवहार प्राप्त करते हैं (कतिपय शर्तों के अधीन रहते हुए, जो एक समान रूप से लागू की जाती है) और उपराष्ट्रपति तथा अन्य सांविधानिक कृत्यकारियों के संबंध में भी यही स्थिति है। भाग 3 में अंतर्विष्ट संरक्षण सभी को उपलब्ध है और राज्य लोगों के कल्याण की अभिवृद्धि और आजीविका के पर्याप्त साधन, न्याय, निःशुल्क कानूनी सहायता और प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य के अधिकार का संप्रवर्तन करने हेतु प्रयास करेगा। तथापि, कुछ विशेष प्रसुविधाएं कुछ कमजोर वर्गों को विस्तारित की गई हैं या विस्तारित की जा सकती हैं। किंतु यह बात उन्हें अन्य लोगों के साथ समान स्तर पर स्थित करने के लिए है, न कि समता के उद्देश्य को निरर्थक बनाने के लिए। जहां तक नियोजन के विषय में अवसर की समता के प्रश्न का संबंध है, पिछड़े वर्गों के पक्ष में पदों के आरक्षण के लिए उपबंध सम्मिलित किए गए हैं, जिनका सेवाओं में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व हो। उसी आधार पर कल्याणकारी उपाय भी अनुज्ञात किए गए हैं किंतु जब संसद् या राज्य विधानमण्डल में आरक्षण का विषय आता है, तब उसे भाग-16 में भिन्न रूप में प्रतिपादित (वर्णित) किया गया है। अनुच्छेद 330 के खण्ड (2) और अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) में उस अनुपात को रखने के लिए नियम अधिकथित किया गया है, जो (अनुपात) उस वर्ग की जनसंख्या का कुल जनसंख्या से है। यह बात काफी महत्वपूर्ण है। संविधान में आरक्षण का उपबंध करने का एकमात्र उद्देश्य कार्य के लिए समान प्रतिष्ठा के सिद्धांत को आगे रखना है। जहां तक राज्य सेवाओं में पिछड़े वर्ग के अपर्याप्त प्रतिनिधित्व के मामले का संबंध है, इस समस्या को एक ही प्रयास में नहीं सुलझाया जा सकता है; और परिणामतः अनेक सुसंगत उपबंधों को नम्य बनाया गया है, जिसके द्वारा पर्याप्त आनुपातिक प्रतिनिधित्व के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अधिक व्यापक विवेकाधिकार अनुज्ञात किया गया है। विधानमण्डल में आरक्षण की बाबत सिथति पूर्णतः भिन्न है। जैसे ही आनुपातिक प्रतिनिधित्व के उपबंधों के अनुसार निर्वाचन आयोजित किया जाता है, वैसे ही उक्त उद्देश्य की तुरन्त पूर्ति हो जाती है, क्योंकि वैकलॉग की किसी समस्या का समाधान नहीं करना होता है। पूर्वतर विधानमण्डल के तिरोहित होने पर, नए निर्वाचन के मार्ग को प्रशस्त करते हुए, लोग अपने समक्ष खुला मार्ग पा सकते हैं। इस स्थिति में अत्यधिक आरक्षण से असंतुलन आ जाएगा — निस्संदेह, जो एक अन्य प्रकार का होगा — किंतु फिर भी उससे समान प्रतिष्ठा का उद्देश्य निरर्थक हो जाएगा। पेण्डुलम सीधा स्थिर नहीं रहता है— वह दूसरी ओर चला जाता है। दोनों ही मामलों में समता-खण्ड पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। दोनों ही स्थितियों से वह उद्देश्य निरर्थक हो जाता है, जिसके लिए जनतांत्रिक शक्तियों ने स्वतंत्रता का युद्ध लड़ा; और उन स्थितियों से संविधान द्वारा जो कुछ प्राप्त किया गया है, वह अकृत हो जाता है। स्पष्टतः इससे संविधान के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन होता है। अतः मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि यदि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) का इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाता है कि उससे संसद् को आक्षेपित उपबंध अधिनियमित करने के लिए प्राधिकृत किया गया है, तो उससे संविधान के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन होगा और इसलिए वह शून्य है।

49. ऊपर व्यक्त मत वर्तमान मामलों के निपटारे के लिए पर्याप्त हैं, किंतु निर्णय समाप्त करने से पूर्व, एक और कोण से मामले पर विचार करना समीचीन होगा। प्रत्यर्थियों के विद्वान् अधिवक्ताओं ने सशक्त रूप से यह दलील दी कि आक्षेपित उपबंधों को कायम रखा जाना चाहिए और सिक्किम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण ये रिट याचिकाएं खारिज कर दी जानी चाहिए। बारबार इस बात पर बल दिया गया कि त्रिपक्षीय करार के पाचंवें निबंधन को देखते हुए और इस तथ्य को देखते हुए कि चोग्याल द्वारा संघ स्थान काफी पहले वर्ष 1958 में सर्जित किया गया था,

उन व्यवस्थाओं में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, जिनके बारे में पक्षकारों द्वारा करार (सहमति) किया गया था। इस संबंध में विभिन्न प्रत्यर्थियों के काउंसेलों और अनेक मध्यक्षेपियों ने चोग्याल की एक के बाद एक अनेक उद्घोषणाओं के प्रति निर्देश किया। मेरे मतानुसार इस सिथति के निर्वचन (की व्याख्या) पर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रभाव इसके विपरीत है। उक्त अवधि के दौरान, जिसके प्रति पहले निर्देश किया गया है, अपने प्राधिकार को बनाए रखने के लिए प्रयासरत निरंकुश चोग्याल और जनतांत्रिक शासन की स्थापना की मांग करने वाले लोगों के बीच लड़ाई चल रही थी, अतः शासक की प्रेरणा से करार में सम्मिलित किए गए निबंधनों या उसकी उद्घोषणाओं को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता है। दूसरी ओर, लोगों की उस मांग पर विचार करना सुसंगत होगा, जो अंततः सफल हुई। यदि हम चोग्याल की शक्ति और सत्ता से चिपके रहने तथा लोगों द्वारा आरम्भ की गई जनतांत्रिक प्रक्रिया को ध्वंस करने के उनके निराशापूर्ण प्रयास में उनके कार्यों और लोगों को सम्मान देते हुए और उन्हें कार्यान्वित करते हुए, इस स्थिति का निर्वचन (की व्याख्या) करने के लिए अग्रसर होते हैं, तो हमें इतिहास का पुनः लेखन करना होगा और सिक्किम के लोगों को उस चीज से वंचित करना होगा, जो वे समय-समय पर चोग्याल की पकड़ से निकाल लेने में समर्थ हुए, जिसकी परिणति अंततः सिक्किम के भारत में विलय के रूप में हुई। संघ स्थान का आरक्षण भी ऐसे ही जन-विरोधी कार्यों में से एक कार्य था। जहां तक तारीख 16 मई, 1968 की उद्घोषणा के टिप्पण का संबंध है, यदि उसे प्रवर्तित किया जाना है, तो नेपाली लोग भी भूटिया-लेप्चा लोगों के लिए आरक्षित स्थानों के समान स्थानों के आरक्षण के लिए हकदार होंगे और सत्तारूढ़ प्राधिकारी द्वारा नामनिर्देशन हेतु स्थानों की उतनी ही संख्या आरक्षित रखी जानी चाहिए। कुछ प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल, श्री भट्ट ने वस्तुतः हमारे समक्ष नेपाली लोगों के आरक्षण हेतु उनके दावे पर गम्भीरतापूर्वक बल दिया। यह संपूर्ण चिंतन-धारा पूर्णतः मिथ्या धारणा पर आधारित है। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं कि जैसे ही प्रभावी प्राधिकार से युक्त विधान सभा का गठन किया गया, वह उसी चीज को अकृत करने के लिए अग्रसर हुई जिसका प्रत्यर्थियों की ओर से हमारे समक्ष अवलंब लिया जा रहा है। जब उसने तारीख 10 अप्रैल, 1975 को ऐतिहासिक संकल्प पारित किया, जिस पर पहले विस्तार से बहस की जा चुकी है, तब करार का पांचवां निबंधन अधित्यजित कर दिया गया और जब लोगों को जनमत संग्रह द्वारा अपनी राय व्यक्त करने के लिए आमंत्रित किया गया, तो उन्होंने अपना अधिमत व्यक्त किया, जो ऐसी किसी शर्त द्वारा निर्बंधित नहीं था और जो प्रायः सर्वसम्मत था। मैं समझता हूं कि ऐसा इसलिए था कि लोगों को यह मालूम था कि भारतीय संविधान के अंतर्निहित रक्षोपाय मामले के इस पहलू से निपटने के लिए पर्याप्त थे। ऐसे तर्क का यह पूर्ण उत्तर है। इतिहास, जहां तक वह संगत है, भूटिया-लेप्चा लोगों और संघ के पक्ष में अत्यधिक आरक्षण को निश्चित रूप से अनुचित सिद्ध करता है। संविधान के 36वें संशोधन को इन बातों के प्रकाश में ही समझा जाना है।

50. अतः मेरा यह निष्कर्ष है कि आक्षेपित उपबंध, जिनमें अनुच्छेद 371-च (च) भी सम्मिलित है, संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य हैं। परिणामतः आक्षेपित उपबंधों के अधीन आयोजित निर्वाचन के आधार पर गठित वर्तमान सिक्किम विधान सभा को अवैध रूप से गठित घोषित किया जाना है। अतः संबंधित प्राधिकारियों को, शेष देश को यथा-लागू संविधान से संगत विधि के अधीन नए सिरे से और तुरन्त कदम उठाने चाहिए। तदनुसार रिट याचिकाएं, रिट याचियों को संदेय खर्चों सहित, मंजूर की जाती हैं।

51. निर्णय का अंतिम रूप से समापन करने से पूर्व, मैं अपने विद्वान बंधु न्यायाधीशों की राय को ध्यान में रखते हुए, कुछ शब्द कहना चाहूंगा, जो मेरे निष्कर्ष से असहमति व्यक्त करते हुए बहुमत के निर्णय में व्यक्त की गई है। इस निर्णय को देखते हुए, अब इन सभी याचिकाओं को खारिज किया जाना है, किंतु मैं इस बात पर बल देना चाहता हूं कि उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि संसद् ने आक्षेपित उपबंधों को अधिनियमित करते समय अपनी सांविधानिक और विधायी शक्तियों का अतिक्रमण नहीं किया है और परिणामतः रिट याचिकाओं को खारिज किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि संसद् उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण विभेदकारी उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिए आबद्ध है, जिसमें सिक्किम भारत संघ में सम्मिलित हुआ। संबंधित विवाद्यक पर कोई विनिश्चय करना संविधान के विवेक (प्रज्ञा) का विषय है (जैसा कि बहुमत के निर्णय के पैरा 30 में कहा गया है) और जैसा कि उक्त पैरा में संकेत दिया गया है, वर्तमान स्थिति आशाजनक रूप से अस्थायी अवस्था हो सकती है। निर्णय के पैरा 31 में, अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) में अंतर्विष्ट उपबंधों को 'समर्थकारी उपबन्धों' रूप में वर्णित किया गया है, न कि 'बाध्यकारी उपबन्धों' रूप में। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि इस न्यायालय को आक्षेपित उपबंधों को विखण्डित करने के लिए कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं है, (तथापि) 'गलती' को जैसा कि मैं उसे वर्णित करना चाहूंगा, ठीक करना पूर्णतः संसद् के अधिकार क्षेत्र में आता है। विभिन्न समूहों (वर्गों) को समनुदेशित, देश के राज्यतंत्र में भूमिका के असमान प्रभाजन की, हानिकर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है, जिससे लोगों के बीच सद्भावना और भाई-चारे की भावना का ह्रास होता है और विभाजनकारी शक्तियों को प्रोत्साहन और बल मिलता है। संघों के लिए स्थान के आरक्षण और पृथक् निर्वाचक मण्डल के सर्जन का और भी अधिक विनाशकारी प्रभाव है। धर्म की, जैसा कि उसे आजकल समझा जाने लगा है, शासन से संगति नहीं बैठती; ऐसे अनुपयुक्त समुच्चय का पारिणामिक विस्फोटक परिणाम कुछ दशक पूर्व ही राष्ट्र की एकता के लिए घातक सिद्ध हुआ है, जिसके कारण देश का विभाजन हुआ। उसके तुरन्त पश्चात् हमारे संविधान के निर्माण का कार्य आरम्भ किया गया। इस खतरनाक प्रवृत्ति के कारण ही हमारे देश ने एक हजार वर्ष तक कष्ट भोगा है, जिसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर विनाशकारी संघर्ष और बार-बार रक्तपात हुआ है। आज, एक राज्य के विधानमण्डल में एक स्थान स्पष्ट रूप से अवेक्षणीय नहीं है और वह अपूरणीय क्षति कारित करने में स्वतः सक्षम नहीं भी हो सकता है, किंतु वैमनस्य का यह बीज भयानक दैत्य का रूप धारण करने की सामर्थ्य रखता है। यह सच है कि असुविधाग्रस्त वर्गों के लिए संविधान में कुछ विशेष अधिकार परिकल्पित किए गए हैं किंतु ऐसा उस असुविधा को दूर करने के लिए ही किया गया है, जिनसे वे वर्ग ग्रस्त हैं, न कि अल्पसंख्यक प्रास्थिति को श्रेयस्कर (अच्छी चीज) बता कर एक अन्य

1993(2) eILR(PAT) SC 143

प्रकार का असंतुलन पैदा करने के लिए। अतः संविधान में, उस परिमाण (सीमा) पर कठोर परिसीमाएं अधिरोपित करने की पूर्वावधानी बरती गई है, जिस तक यह महत्व (विशेष व्यवहार) दिया जा सकता है, और ऐसा अभिव्यक्त उपबंधों को सम्मिलित करके किया गया है तथा यह विषय पश्चात्वर्ती अधिनियमितियों का विषय बनाए जाने के लिए नहीं छोड़ा गया है—ये परिसीमाएं दो प्रकार से अधिरोपित की गई हैं—प्रथमतः विधान मण्डलों में स्थानों के आरक्षण पर अधिकतम सीमा अधिरोपित करके; और द्वितीयत; धर्म को विभेद के आधार के रूप में अपवर्जित करते हुए। इन परिसीमाओं की उपेक्षा करने का अर्थ छोटे-छोटे समूहों और वर्गों को,—जो एक न एक आधार पर हमारे देश में काफी बड़ी संख्या में मौजूद हैं— पृथक् समूहों और वर्गों के सदस्यों के रूप में अपनी विशेष प्रास्थिति पर अड़े रहने और उसका अवलंब लेने तथा राष्ट्र की मुख्यधारा में सम्मिलित न होने और भारतीयों के रूप में अपनी पहचान न होने देने के लिए प्रोत्साहन देना होगा। अतः यह पूर्णतः आवश्यक है कि धर्म को, चाहे उस पर कोई भी मुखौटा चढ़ा हो या उसे किसी भी आवरण द्वारा छिपाया गया हो, राज्य की शक्तियों के प्रयोग के लिए अनन्यतः आरक्षित क्षेत्र से बाहर रखा जाना चाहिए। मेरे मतानुसार, यह संदेश सदा स्पष्ट रहा है और अब यह राष्ट्र का काम है कि वह संदेश पर ध्यान दे और अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से उस संदेश को कार्यान्वित करे।

न्यायमूर्ति वेंकटाचलैया (अपनी ओर से और न्या० जे० एस० वर्मा और के० जयचन्द्र रेड्डी की ओर से) (बहुमत निर्णय):

52. भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इन रिट याचिकाओं में, जो मूलतः सिक्किम उच्च न्यायालय में फाइल की गई थीं और जो अब इस न्यायालय द्वारा प्रत्याहृत और अनुच्छेद 139-क के अधीन उसे अंतरित की गई हैं, उन निबंधनों और शर्तों की प्रकृति के संबंध में संसद् की शक्ति पर सांविधानिक परिसीमाओं के कुछ रोचक और महत्वपूर्ण विवाद्यक उठाए गए हैं, जिन्हें वह भारत संघ में नए राज्यों के सम्मिलित किए जाने के लिए संविधान के अनुच्छेद 2 के अधीन अधिरोपित कर सकती है। ये विवाद्यक भारत के संविधान की प्रथम अनुसूची में 22वें राज्य के रूप में, संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 के अधीन भारत संघ में सिक्किम के विलय के संदर्भ में उत्पन्न हुए हैं।

53. इससे पूर्व, सिक्किम शासन अधिनियम, 1974 के अधीन प्रदत्त शक्तियों के आधार पर सिक्किम विधान सभा द्वारा पारित संकल्प के अनुसरण में, जिसमें भारत की राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं के साथ सहबद्ध होने की ओर भारत की संसदीय पद्धति में सिक्किम के लोगों के प्रतिनिधित्व की इच्छा व्यक्त की गई थी, अनुच्छेद 2क को अंतःस्थापित करते हुए, संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 पारित किया गया, जिसके द्वारा सिक्किम राज्य को "सहबद्ध राज्य" की प्रास्थिति प्रदान की गई; किंतु बाद में, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सिक्किम संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 के आधार पर संघ में पूर्ण राज्य के रूप में भारतीय संघ का एक अभिन्न भाग बन गया, तथापि जिसमें सिक्किम की राजनीतिक संस्थाओं के विकास की कतिपय ऐतिहासिक प्रसंगतियों को स्थान देने के लिए, अनुच्छेद 371-च में विशेष उपबंधों का उपबंध किया गया था। विशेष रूप से राज्य की विधान सभा में विभिन्न जातीय और धार्मिक समूहों के लिए स्थानों के आरक्षण के विषय में इस विशेष प्रास्थिति की प्रसंगतियों की संवैधानिकता (विधिमान्यता) को ही इन याचिकाओं में चुनौती दी गई है।

54. सिक्किम भारत के पूर्वोत्तर में एक पर्वतीय राज्य है, जो पूर्वी हिमालय क्षेत्र में स्थित है तथा जिसका क्षेत्रफल लगभग 7200 वर्ग किलोमीटर है। उसकी आबादी लगभग 4 लाख है। सिक्किम की स्थिति सामरिक रूप से बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि वह पश्चिम में नेपाल, उत्तर में तिब्बत, पूर्व में भूटान और दक्षिण तथा पश्चिम में भारत संघ के पश्चिमी बंगाल राज्य द्वारा घिरा हुआ है। यह राज्य भारत से तिब्बत के लघुतम (सबसे छोटे) मार्ग पर स्थित है। वह पूर्णतः पर्वतीय है। घने वनों द्वारा आच्छादित (घिरा हुआ), यह राज्य लाचेन और लाचुंग में उत्तरतम क्षेत्रों में स्थित है। पर्वतों की ऊंचाई 7000 मीटर है और कंचनजंघा (8579 मीटर) विश्व का तृतीय उच्चतम शिखर है। सिक्किम में अनेक प्रकार के पुष्प-पादप (बाग-बगीचे) हैं और उसे प्रायः 'वनस्पति-विज्ञानी के स्वर्ग' के रूप में सम्बोधित किया जाता है। ("भारत 1991", पृष्ठ 930)

55. इतिहासवेत्ता (इतिहास जानने वाला) के लिए सिक्किम का इतिहास विद्या, जनश्रुति, संस्कृति और परम्पराएं अत्यधिक आकर्षक अध्ययन विषय हैं। इस पर्वतीय प्रदेश (भूमि) का आरम्भिक इतिहास समय के धुंधलके में लुप्त हो गया है। किंतु ऐसा कहा जाता है कि वर्ष 1642 में फूनसोंग नामग्याल प्रथम चोग्याल — नामग्याल वंश में (के) आध्यात्मिक और सांसारिक शासक बने। जिस वंश ने सिक्किम पर, उसके वर्ष 1975 में भारत राज्यतंत्र की मुख्यधारा में सम्मिलित होने के समय तक शासन किया।

सिक्किम के मुख्य निवासी लेप्चा, भूटिया और बाद में नेपाल के (से आए हुए) आप्रवासी हैं। लेप्चा लोग मूल स्थानीय (देशी) निवासी थे। ऐसा कहा जाता है कि भूटिया लोग 15वीं और 16वीं शताब्दी के दौरान तिब्बत के खास स्थान से आए थे। तिब्बती मूल के ये लोग 'भूटिया' नाम से पुकारे जाते हैं— जो शब्द 'बोड' या "तिब्बत" शब्द से व्युत्पन्न बताया जाता है— और जैसा कि परम्परा बताती है, उन्होंने 15वीं और 16वीं शताब्दी में तिब्बत में फूट पड़ने के पश्चात् इस देश में शरण ली। उनके सरदारों में से एक को वर्ष 1642 में सिक्किम के चोग्याल के रूप में अभिषिक्त किया गया (सिंहासन पर बैठाया गया)। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः सिक्किम एक विस्तृत देश था किंतु उसने अपने राज्य क्षेत्र का बड़ा भाग नेपाल और भूटान तथा अंत में ब्रिटिश लोगों के हाथों (पक्ष में) गवां दिया। लेप्चा और भूटिया लोग धर्म से बौद्ध हैं।

वर्ष 1947 तक, जब ब्रिटिश सर्वोपरिता व्यपगत हुई, सिक्किम ब्रिटिश संरक्षित राज्य था, जिसके पश्चात् भारत के साथ तारीख 3 दिसम्बर, 1950 की संधि के अधीन सिक्किम भारत का संरक्षित राज्य बना रहा। गत शताब्दी में नेपाली मूल के लोगों का बड़ी संख्या में सिक्किम में आना (प्रवास) हुआ है। यह इतना बड़ा आगमन

23—251 Law & Justice/2001.

आप्रवास था कि समयानुक्रम में नेपाली मूल के सिक्किमी लोग सिक्किम की जनसंख्या का लगभग दो तिहाई भाग बन गए। तदनुसार मूल भूटिया-लेप्चा लोगों (अब जातीय बहुमत) के, संरक्षण के लिए आवाज उठी, जिससे कि, नेपाल से बाद में आने वाले आप्रवासियों द्वारा उनकी राजनीतिक आवाज और अभिव्यक्ति को दबा न दिया जाए।

56. सिक्किम के लोगों की यह जातीय और जनांकिकीय विविधताएं, सिक्किमी समाज के खण्डीय बहुवाद के कारण जातीय आयामों की आशंकाएं और राजनीतिक अभिव्यक्ति के लिए अवसरों के असंतुलन—अनुच्छेद 371-च के अंतःस्थापन का आधार हैं और उसके लिए दावाकृत औचित्य हैं। गहन पृथक्करण का तत्व, बहुवादी समाजों की सामाजिक विविधता और जनतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों से संगत व्यावहारिक समायोजनों के विकास में इन वास्तविकताओं की मान्यता राजनीतिक संगठन में पुनरावर्ती (बारबार उत्पन्न होने वाले) विवाद्यक हैं।

एरेण्ड लिजकार्ट ने अपनी कृति "डेमोक्रेसी इन प्लूरल सोसाइटीज़" (पृष्ठ 16) में कुछ महत्वपूर्ण मताभिव्यक्तियां की हैं:—

> "अनेक विकासशील देश, विशेषरूप से एशिया और अफ्रीका के देश, बल्कि गुयाना, सूरीनाम, और त्रिनिदाद—जैसे कुछ दक्षिण अमरीकी देश भी, अपनी-अपनी जनसंख्याओं के खण्डों के बीच गहरे विभाजन और एकता के सूत्र में बांधने वाला मतैक्य के अभाव से उत्पन्न होने वाली राजनीतिक समस्याओं से ग्रस्त हैं। नए राज्यों में राजनीतिक विकास, राष्ट्र-निर्माण और जनतंत्रीकरण पर सैद्धांतिक साहित्य में इस तथ्य पर विचित्र रूप से उभयमुखी (अस्पष्ट) रूप में चर्चा की गई है। एक ओर, अनेक लेखकों ने उसके महत्व को अभिस्वीकृत करने से विवक्षित रूप में इनकार किया है।
>
> ऐसे साम्प्रदायिक लगावों को क्लिकोर्ड ग्रीट्ज ने 'आदिम' निष्ठाओं का नाम दिया है, जो भाषा, धर्म, प्रथा, क्षेत्र जाति/नस्ल या काल्पनिक रक्त संबंधों पर आधारित हो सकती हैं। यूरोप के संगठनात्मक (समायोजनात्मक) जनतंत्रों की उप-संस्कृतियों को भी, जो प्रकृति में धार्मिक और सैद्धान्तिक हैं और जिन पर उक्त देशों में से दो देशों में भाषाई विभाजन अधिरोपित किए गए हैं, आदिम समूहों के रूप में माना जा सकता है, यदि विचारधारा को एक प्रकार के धर्म के रूप में माना जाता है।
>
> इसके साथ ही बहुवादी समाजों के व्यापक प्रवर्ग के अंतर्गत गुणात्मक और परिमाणात्मक अंतरों (मतभेदों) के प्रति भी जागरूक रहना अनिवार्य है, जो मतभेद पृथक्करणात्मक (खण्डीय) विविधताओं के विभिन्न प्रकारों के बीच मतभेद और उस सीमा या परिमाण में होने वाले मतभेद के हैं, जिस सीमा या परिमाण तक कोई समाज बहुवादी है।
>
> गैर-पश्चिमी राजनीति की द्वितीय मुख्य विशेषता जनतंत्र का भंग है। मुख्यतः राजनीतिक नेताओं द्वारा स्वर दी गई जनतांत्रिक आकांक्षाओं पर आधारित, नव-स्वतंत्र देशों की जनतांत्रिक संभावनाओं से संबंधित आरम्भिक आशावाद के पश्चात्, मोहभंग (निराशा) का भाव छा सा गया है और अनेक प्रेक्षकों के अनुसार, गैर-पश्चिमी राजनीति की इन दोनों मूलभूत विशेषताओं के बीच प्रत्यक्ष संबंध है; बहुवादी समाज जनतांत्रिक सरकार को कायम रखने में अक्षम है।
>
> बहुवादी समाज इतिहास के अपरिवर्तनीय (अपरिहार्य) आंदोलनों का परिणाम हैं। उनके प्रभाव को समाप्त नहीं किया (मिटाया नहीं) जा सकता है। किसी देश की राजनीतिक प्रतिभा जनतांत्रिक पद्धति, समायोजनों और समाधानों के अंतर्गत विकसित होने में समर्थ होनी चाहिए।"

57. अनुच्छेद 371-च और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 तथा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में, जैसे कि वे निर्वाचन विधियां (सिक्किम को विस्तार) अधिनियम, 1976 और लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 द्वारा संशोधित किए गए हैं, लाए गए समरूपी पारिणामिक परिवर्तनों के अनुसरण में, सिक्किम विधानसभा के 32 स्थानों में से 12 स्थान, भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित रखे गए हैं और एक स्थान बौद्ध लामा मठों के संघ के लिए जिनके लिए निर्वाचन पृथक् निर्वाचक नामावली के आधार पर होता है, जिसमें केवल अप्रैल, 1974 में सिक्किम में आयोजित निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिए मान्यताप्राप्त लामाई मठों के संघ ही रजिस्ट्रीकृत किए जाने के लिए हकदार हैं।

जातीय और धार्मिक समूहों के लिए स्थानों के इन आरक्षणों को याचियों द्वारा, जो नेपाली मूल के सिक्किमी (लोग) हैं, इस आधार पर चुनौती दी गई है कि वे भारतीय संविधानवाद के मूलभूत तत्वों और जनतंत्र तथा धर्म-निरपेक्षता के सिद्धांतों का उल्लंघन करते हैं, जो भारतीय सांविधानिक आचार-पद्धति का आधार है। मुख्य दलील यह (दी गई) है कि सिक्किम का नागरिक भारत संघ का नागरिक है और वह सभी सांविधानिक गारण्टियों और जनतांत्रिक गणराज्य के वरदानों (लाभों) के लिए हकदार है।

58. यहां सिक्किम में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए आन्दोलन और उसकी राजनैतिक संस्थाओं के विकास के प्रति उल्लेख करना आवश्यक है।

तारीख 28 दिसम्बर, 1992 की एक राजकीय (शाही) उद्घोषणा द्वारा एक राज्य परिषद् स्थापित की गई, जिसमें 12 निर्वाचित सदस्यों में से 6 सदस्य भूटिया-लेप्चा समुदाय के और अन्य 6 सदस्य नेपाली मूल के सिक्किमी (लोग) होने थे। सिक्किम को चार निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित किया गया और भूटिया-लेप्चाओं तथा नेपालियों के बीच स्थानों के वितरण का विवरण इस प्रकार है:—

(i)	गंगटोक निर्वाचन-क्षेत्र	2 भूटिया-लेप्चा	1 नेपाली
(ii)	उत्तर-म2 भूटिया-लेप्चा		1 नेपाली
(iii)	नामची निर्वाचन-क्षेत्र	1 भूटिया-लेप्चा	2 नेपाली
(iv)	पेमायांगत्से निर्वाचन-क्षेत्र	1 भूटिया-लेप्चा	2 नेपाली

तारीख 23 मार्च, 1953 की "राज्य-परिषद् और कार्यकारी परिषद् उद्घोषणा, 1953" द्वारा 18 सदस्यों की एक राज्य-परिषद् गठित की गई, जिसमें 12 निर्वाचित सदस्य, 5 नामनिर्देशित सदस्य और (एक) अध्यक्ष सम्मिलित थे, जिनका नामनिर्देशन महाराजा द्वारा किया जाना था। 12 निर्वाचित सदस्यों में से 6 सदस्य भूटिया-लेप्चा समुदाय के होने थे और अन्य 6 सदस्य नेपाली मूल के। उद्घोषणा का खण्ड 1, 2 और 3 इस प्रकार हैं:—

> *"1. इस उद्घोषणा को 'राज्य-परिषद् और कार्यकारी परिषद् उद्घोषणा, 1953' के रूप में प्रोद्धृत किया जा सकेगा और वह सिक्किम के राजपत्र में प्रकाशन के पश्चात् तुरन्त प्रवृत्त होगी।
>
> 2. सिक्किम राज्य के लिए एक राज्य परिषद् गठित की जाएगी।
>
> 3. राज्य परिषद् में निम्नलिखित होंगे:—
>
> (क) अध्यक्ष, जो महाराजा द्वारा नामनिर्देशित और नियुक्त किया जाएगा;
>
> (ख) 12 निर्वाचित सदस्य, जिनमें से 6 सदस्य सिक्किमी भूटिया या लेप्चा समुदाय के होंगे और शेष 6 सदस्य सिक्किम के नेपाली होंगे; और
>
> (ग) महामहिम महाराजा द्वारा स्वविवेकानुसार नामनिर्देशित 5 सदस्य।"

वर्ष 1958 में परिषद् की संख्या बढ़ा कर 20 कर दी गई। उसकी संरचना का विवरण इस प्रकार है:—

(1) भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए आरक्षित स्थान	6
(2) नेपालियों के लिए आरक्षित स्थान	6
(3) साधारण स्थान	1
(4) संघ के लिए आरक्षित स्थान	1
(5) महा-महिम महाराजा द्वारा नामनिर्देशन	6

तत्कालीन चोग्याल द्वारा प्रख्यापित तारीख 21.12.1966 के "सिक्किम नागरिक प्रतिनिधित्व विनियम, 1966" द्वारा राज्य परिषद् निम्नलिखित प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से मिल कर बननी थी:—

1. भूटिया-लेप्चा	7
2. सिक्किम के नेपाली (मूल के लोग)	7
3. संघ	1
4. अनुसूचित जाति	1
5. सौंग	1
6. साधारण स्थान	1
7. चोग्याल द्वारा नामनिर्देशित	6
योग	24

59. वर्ष 1973 में अनेक आनुक्रमिक राजनैतिक आंदोलनों की सिक्किम में लोगों के प्रति उत्तरदायी सरकार की (स्थापना की) दिशा में समाप्ति हुई। तारीख 8 मई, 1973 को सिक्किम के शासक, भारत सरकार के विदेश सचिव और सिक्किम के लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनैतिक दलों के बीच एक त्रिपक्षीय करार निष्पादित किया गया, जिसके द्वारा सिक्किम में स्वशासन और जनतांत्रिक संस्थाओं के लिए उत्तरोत्तर (बढ़ते हुए) लोकमत दबाव को महत्व (अभिव्यक्ति) दिया गया। उक्त त्रिपक्षीय करार में सिक्किम के लोगों का वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचनों के लिए अधिकार परिकल्पित किया गया और उसमें सिक्किम में विधानसभा का स्थापित किया जाना भी अनुध्यात किया गया, जिसका हर चार वर्ष के पश्चात् निर्वाचन द्वारा पुनर्गठन किया जाना था। उक्त करार में स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचनों के प्रति प्रतिबद्धता घोषित की गई, जिसका पर्यवेक्षण भारत के निर्वाचन आयोग के प्रतिनिधि द्वारा किया जाना था। उक्त त्रिपक्षीय करार के खण्ड (5) में यह कहा गया:—

> "(5) निर्वाचन-पद्धति को इस प्रकार आयोजित (संगठित) किया जाएगा, जिससे जनसंख्या के विभिन्न वर्गों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। विधान सभा और कार्यकारी परिषद् की साइज़ (आकार-प्रकार) और संरचना ऐसी होगी, जैसी समय-समय पर विहित की जाए और यह सुनिश्चित करने के लिए सावधानी बरती जाएगी कि जनसंख्या का कोई एक विशेष वर्ग मुख्यतः अपने जातीय मूल के कारण आधिपत्य की (प्रबल) स्थिति प्राप्त नहीं करता है, और सिक्किम के भूटिया-लेप्चा मूल तथा नेपाली मूल के लोगों के, जिनमें सौंग और अनुसूचित जाति के मूल के लोग भी सम्मिलित हैं, हितों और अधिकारों को पूर्ण संरक्षण प्रदान किया जाता है।"

उक्त करार सिक्किम नागरिक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1974 नामक राजकीय उद्घोषणा द्वारा प्रभावी बनाया गया। इस व्यवस्था के अधीन स्थानों का आरक्षण इस प्रकार था:—

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है:—

> "1. This Proclamation may be cited as the 'State Council and Executive Council Proclamation, 1953' and shall come into operation immediately on its publication in the Sikkim Government Gazette.
>
> 2. There shall be constituted a State Council for the State of Sikkim.
>
> 3. The State Council shall consist of:—
>
> (a) A President who shall be nominated and appointed by the Maharaja;
>
> (b) Twelve elected members, of whom six shall be either Sikkim Bhutia, or Lepcha and the remaining six shall be Sikkim Nepalese; and
>
> (c) Five members nominated by His Highness the Maharaja in his discretion."

"3. विधान सभा में 32 निर्वाचित सदस्य होंगे।

क(i) 16 निर्वाचन-क्षेत्र भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित होंगे।

क(ii) इन 16 निर्वाचन-क्षेत्रों में से एक निर्वाचन-क्षेत्र संघ के लिए आरक्षित होगा।

ख(i) शेष 16 निर्वाचन-क्षेत्र, सौंग और अनुसूचित जाति को सम्मिलित करते हुए, नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित किए जाएंगे।

ख(ii) ऊपर वर्णित 16 निर्वाचन-क्षेत्रों में से, जो नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित किए गए हैं, एक निर्वाचन-क्षेत्र इससे उपाबद्ध द्वितीय अनुसूची में अधिसूचित अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों के लिए आरक्षित होगा।"

60. इस प्रकार निर्वाचित और गठित सिक्किम विधान सभा ने सिक्किम में पूर्णतः उत्तरदायी सरकार के लक्ष्य को क्रमिक रूप से प्राप्त करने के लिए और भारत के साथ अपने संबंधों को और पुष्ट करने के लिए सिक्किम शासन अधिनियम, 1974 पारित किया। उक्त अधिनियम की धारा 7 में तारीख 8.5.1973 के त्रिपक्षीय करार का पैरा 5 सम्मिलित किया गया।

उक्त अधिनियम की धारा 30 और 33 में यह उपबंध किया गया:—

"30. सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में शीघ्र विकास के लिए सिक्किम सरकार—

(क) भारत सरकार से सिक्किम के योजनाबद्ध विकास को भारत के योजना आयोग की परिधि के अन्तर्गत सम्मिलित करने का अनुरोध कर सकेगी, जब उक्त आयोग भारत के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए योजना तैयार कर रहा हो, और ऐसे कार्य में सिक्किम के पद्धारियों को भी समुचित रूप से सहबद्ध करने का अनुरोध भी कर सकेगी।

(ख) भारत सरकार से उच्चतर शिक्षा हेतु संस्थाओं में सिक्किम के छात्रों के लिए और भारत की लोक सेवाओं में सिक्किम के लोगों के नियोजन के लिए (अखिल भारतीय सेवाओं सहित) भारत के नागरिकों को उपलब्ध सुविधाओं के समान ही सुविधाएं प्रदान करने का अनुरोध कर सकेगी;

(ग) भारत की राजनैतिक संस्थाओं में सिक्किम के लोगों के लिए सहभागिता और प्रतिनिधित्व की ईप्सा कर सकेगी।"

"33. विधान सभा, जो अप्रैल, 1974 में सिक्किम में आयोजित निर्वाचनों के परिणामस्वरूप बनाई गई है, इस अधिनियम के अधीन सम्यक् रूप से गठित प्रथम विधान सभा मानी जाएगी और वह इस अधिनियम द्वारा विधान सभा को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करने और विहित कृत्यों का निर्वहन करने के लिए हकदार होगी।"

61. संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा जोड़ा गया संविधान का अनुच्छेद 2-क सिक्किम के लोगों की आकांक्षाओं का भारतीय उत्तर था और सिक्किम को उक्त संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा संविधान में अंतःस्थापित 10वीं अनुसूची में उपवर्णित निबन्धनों और शर्तों के अधीन भारत में "सहबद्ध राज्य" की प्रास्थिति प्रदत्त की गई।

62. वर्ष 1975 में चोग्याल के विरुद्ध लोगों का विद्रोह और असंतोष सामने आया। सिक्किम विधान सभा ने एक सर्वसम्मत संकल्प द्वारा "चोग्याल" का पद (संस्था / प्रथा) उत्सादित कर दिया और यह घोषित किया कि अब से सिक्किम भारत का एक संघटक एकक होगा, जिसे जनतांत्रिक और पूर्णतः उत्तरदायी सरकार प्राप्त होगी। उक्त संकल्प में इस विषय के संबंध में जनमतसंग्रह भी परिकल्पित किया गया। सिक्किम के लोगों ने तारीख 14 अप्रैल, 1975 को आयोजित जनमतसंग्रह में उसके इस संकल्प का पृष्ठांकन कर दिया। संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 पारित किया गया, जिसके द्वारा भारतीय राज्यतंत्र में सिक्किम को "राज्य" की प्रास्थिति प्रदान की गई। अनुच्छेद 2क को निरसित कर दिया गया। 36वें संशोधन द्वारा जोड़े गए अनुच्छेद 371-च में भारत संघ में नए राज्य के रूप में सिक्किम के प्रवेश के लिए कुछ विशेष शर्तें परिकल्पित की गईं। सिक्किम की विशेष स्थिति से निपटने के लिए आवश्यक समझे गए, निर्वाचन-विधियों में संशोधनों के लिए कुछ विधायी अध्युपाय भी प्रवृत्त किए गए। अनुच्छेद 371-च का खण्ड इस प्रकार है:—

"(च) संसद् सिक्किम की जनता के विभिन्न विभागों (वर्गों) के अधिकारों और हितों की संरक्षा करने के प्रयोजन के लिए सिक्किम राज्य की विधान सभा में उन स्थानों की संख्या के लिए जो ऐसे विभागों के अभ्यर्थियों द्वारा भरे जा सकेंगे और ऐसे सभा निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन के लिए उपबंध कर सकेगी जिनसे केवल ऐसे विभागों के अभ्यर्थी ही सिक्किम राज्य की विधान सभा के निर्वाचन के लिए खड़े हो सकेंगे।"

निर्वाचन विधि (सिक्किम को विस्तार) अधिनियम, 1976 द्वारा कतिपय विशेष उपबंधों सहित, लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 को सिक्किम को विस्तारित करने की ईप्सा की गई।

उक्त अधिनियम की धारा 25क में यह उपबंध किया गया है:—

"25-क. **सिक्किम के संघ निर्वाचन-क्षेत्र में निर्वाचक के रूप में रजिस्ट्रीकरण की शर्तें**—धारा 15 और 19 में किसी बात के होते हुए भी, सिक्किम राज्य में संघ निर्वाचन-क्षेत्र के लिए, मठों के केवल वे संघ, निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत होने के हकदार होंगे, जिन्हें सिक्किम की सभा बनाने के लिए अप्रैल, 1974 में सिक्किम में किए (कराए) गए निर्वाचनों के प्रयोजन के लिए मान्यता दी गई थी और उक्त निर्वाचक नामावली को, धारा 21 से 25 तक की धाराओं के उपबंधों के

अधीन रहते हुए, ऐसी रीति से तैयार किया जाएगा या पुनरीक्षित किया जाएगा, जो सिक्किम सरकार के परामर्श से निर्वाचन आयोग द्वारा निर्दिष्ट की जाए।"

तारीख 11 सितम्बर, 1979 को भारत के राष्ट्रपति द्वारा प्रख्यापित, लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अध्यादेश, 1979 द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में कुछ संशोधन किए गए, जिससे कि सिक्किम की राजनैतिक संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास से संगत और उसके अनुरूप समझे जाने वाले एक निश्चित आधार पर सिक्किम विधान सभा के लिए नए सिरे से निर्वाचन कराए जा सकें। बाद में उक्त अध्यादेश का स्थान लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 द्वारा ले लिया गया, जिसके द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 7 में उपधारा (1-क) अंतःस्थापित की गई। उक्त उपधारा में यह उपबंध किया गया है:—

"(1-क) उपधारा (1) में किसी बात के होते हुए भी, सिक्किम राज्य की विधान सभा में, जो लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 के प्रारम्भ के पश्चात् किसी समय गठित की जानी है, उन स्थानों की कुल संख्या जो सभा निर्वाचन-क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गए व्यक्तियों द्वारा भरे जाएंगे, बत्तीस होगी जिसमें से—

(क) बारह स्थान भूटिया-लेप्चा उद्भव के सिक्किमियों के लिए आरक्षित होंगे; और

(ख) दो स्थान उस राज्य की अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित होंगे; और

(ग) एक स्थान धारा 25क में निर्दिष्ट संघों के लिए आरक्षित होगा।

स्पष्टीकरण—इस उपधारा में "भूटिया" के अन्तर्गत चुम्बिपा, डोप्थापा, दुकपा, कगाते, शेरपा, तिब्बती, ट्रोमोपा और योल्मो भी हैं।"

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में धारा 5क भी जोड़ी गई। धारा 5क की उपधारा (2) में यह उपबंध किया गया है:—

"5-क(2). धारा 5 में किसी बात के होते हुए भी, सिक्किम राज्य की विधान सभा में, जो लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 के प्रारम्भ के पश्चात् किसी भी समय गठित की जानी है, स्थान को भरने के लिए चुने जाने के लिए कोई व्यक्ति तब तक अर्हित नहीं होगा जब तक कि वह—

(क) भूटिया-लेप्चा उद्भव के सिक्किमियों के लिए आरक्षित स्थान की दशा में, या तो भूटिया या लेप्चा उद्भव का व्यक्ति न हो और राज्य में किसी ऐसे सभा निर्वाचन-क्षेत्र के लिए, जो संघों के लिए आरक्षित निर्वाचन-क्षेत्र से भिन्न है, निर्वाचक न हो;

(ख) अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित स्थान की दशा में, सिक्किम राज्य में उन जातियों में से किसी का सदस्य न हो और राज्य में किसी सभा निर्वाचन-क्षेत्र के लिए निर्वाचक न हो;

(ग) संघों के लिए आरक्षित स्थान की दशा में, संघ निर्वाचन-क्षेत्र का निर्वाचक न हो;

(घ) किसी अन्य स्थान की दशा में, राज्य में के किसी सभा निर्वाचन-क्षेत्र के लिए निर्वाचक न हो।"

63. याचियों ने भूटिया-लेप्चा लोगों और संघ के पक्ष में स्थानों के आरक्षण हेतु उपबंधों की संवैधानिकता को चुनौती दी है।

याचिकाओं के समर्थन में दी गई दलीलों के आधार पर निम्नलिखित मुद्दे विचारार्थ उद्भूत होते हैं:—

(क) क्या याचिकाओं में उठाए गए प्रश्नों को, चूंकि वे नए राज्यक्षेत्र के अधिमिलन के निबंधनों और शर्तों से संबंध रखते हैं, लोक अंतरराष्ट्रीय विधि के नियम लागू होते हैं और क्या वे राजनैतिक प्रश्नों के सिद्धांत के आधार पर अ-न्याय्य है।

(ख) क्या संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा जोड़े गए भारत के संविधान के अनुच्छेद 371च के खण्ड (च) से लोकतंत्र के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन होता है।

(ग) क्या लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 7(1-क) और धारा 25-क (क्रमशः निर्वाचन विधि) सिक्किम को विस्तार [अधिनियम, 1976 द्वारा और लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 यथा-अंतःस्थापित] तथा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 5-क(2) [लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 द्वारा यथा अंतःस्थापित] जिसमें सिक्किम की विधान सभा में 32 स्थानों में से भूटिया-लेप्चा लोगों के पक्ष में 12 स्थानों के आरक्षण का उपबंध किया गया है, इस आधार पर असंवैधानिक हैं कि उनसे भारतीय संविधान के अधीन जनतंत्र और गण के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन होता है।

(घ) क्या पूर्वोक्त उपबंधों और तद्धीन किए गए आरक्षणों से संविधान के अनुच्छेद 14, 170(2) और 332 का उल्लंघन होता है। क्या उनसे 'एक व्यक्ति, एक मत' के नियम का भी उल्लंघन होता है, या सिक्किम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखते हुए, ये अंतर न्यायोचित है और वे उन राजनैतिक घटनाओं के आनुषंगिक हैं, जिनकी परिणति सिक्किम के समर्पण (भारत में विलय) के रूप में हुई।

(ङ) क्या भूटिया-लेप्चा लोगों के लिए आरक्षित 32 स्थानों में से 12 स्थानों का आरक्षण अनुच्छेद 371च के खण्ड (च) द्वारा प्रदत्त शक्ति से इस अर्थ में बाह्य है कि उक्त उपबंध द्वारा सिक्किम की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के अधिकारों और हितों का संरक्षण सुकर बनाया गया है और विधान सभा में उन स्थानों की संख्या आरक्षित की गई है, जो ऐसे वर्गों के अभ्यर्थियों द्वारा भरे जा सकेंगे; आक्षेपित उपबंधों में केवल एक वर्ग, अर्थात् भूटिया-लेप्चा के लिए ही उपबंध किया गया है;

(च) क्या, संविधान (सिक्किम) अनुसूचित जनजातियां आदेश, 1978 को देखते हुए, जिसमें भूटिया-लेप्चा लोगों को अनुसूचित

जनजाति के रूप में घोषित किया गया है, स्थानों के आरक्षण की सीमा, हर हालत में, अननुपातिक है और उससे संविधान के अनुच्छेद 332(3) का उल्लंघन होता है, जिसमें यह अपेक्षा की गई है कि राज्य की विधान सभा में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या का अनुपात उस विधान सभा में स्थानों की कुल संख्या से यथाशक्य वही होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या का उस राज्य की कुल संख्या से है;

(छ) क्या लामाई मठों के निर्वाचक-मंडल द्वारा निर्वाचित किए जाने वाले संघ के एक स्थान का आरक्षण पूर्णतः धार्मिक विशिष्टता के आधार पर आधारित है और इसलिए उससे संविधान के अनुच्छेद 15(1) और 325 तथा धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत का उल्लंघन होता है।

निर्देश (सन्दर्भ): दलील (क)

64. सिक्किम राज्यक्षेत्र को जनमत संग्रह के आधार पर अभिव्यक्त, सिक्किम के निवासियों की साधारण सम्मति द्वारा स्वैच्छिक समर्पण के कार्य द्वारा भारतीय संघ में प्रवेश (सम्मिलित किया) गया। समर्पण द्वारा राज्यक्षेत्र के हक के अर्जन के प्रति निर्देश करते हुए, एक विद्वान् लेखक ने यह कहा है:—

> "(च) समर्पण द्वारा हक—राज्यक्षेत्र पर हक समर्पण के कार्य द्वारा भी अर्जित किया जा सकता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि स्वामी (समर्पणकारी) राज्य द्वारा अर्जित करने वाले राज्य को राज्यक्षेत्र पर संप्रभुता का अंतरण । यह इस सिद्धांत पर आधारित है कि अपने राज्यक्षेत्र को अंतरित करने का अधिकार राज्य की संप्रभुता का आधारभूत लक्षण है।"

"जनमत संग्रह"—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् "शांति की संधियों" द्वारा कतिपय मामलों में जनमत संग्रह की पद्धति अंगीकृत की गई और उसे राष्ट्रपति विलसन का सहर्ष आशीर्वाद प्राप्त था, जिन्होंने कांग्रेस को यह बताया: "ऐसी कोई शांति स्थायी नहीं रह सकती है और रहनी भी नहीं चाहिए, जो इस सिद्धांत को मान्यता नहीं देती है और स्वीकार नहीं करती है कि सरकार अपनी सभी न्यायसंगत शक्तियां शासित लोगों की सम्मति से ग्रहण करती है और लोगों को संप्रभुता से अलग करने का मानो कि वे सम्पत्ति हों, कोई अधिकार कहीं भी अस्तित्व में नहीं है।" फ्रांस के संविधान (1946) के अनुच्छेद 26 में यह उपबंध किया गया है कि जनमत-संग्रह के बिना कोई भी राज्यक्षेत्र फ्रांस में सम्मिलित नहीं किया जाएगा।

कुछ मामलों में, राज्य का समर्पण जनमत संग्रह के परिणाम की शर्त के अधीन बनाया जा सकता है, जो आत्म-निर्धारण के सिद्धांत को प्रभावी बनाने के लिए आयोजित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, कोई भी समर्पण तब तक विधिमान्य नहीं होगा, जब तक कि राज्य के निवासी जनमत संग्रह द्वारा उसके लिए अपनी सम्मति प्रदान नहीं करते हैं। यह प्रायः मात्र एक औपचारिकता है, जैसी कि वर्ष 1945 में बाह्य मंगोलिया में, और वर्ष 1946 में दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका में स्थिति थी। जैसा कि ओपनहायम ने मत व्यक्त किया है, यह बात संदिग्ध है कि राष्ट्रों की विधि कभी भी इस बात को समर्पण की शर्त बनाएगी कि उसका जनमत संग्रह द्वारा अनुसमर्पण किया जाना चाहिए।

(देखें "सब्सटेंस ऑफ पब्लिक इंटरनेशनल ला वैस्टर्न एंड ईस्टर्न" ए० के० पवित्रन, प्रथम संस्करण, 1965, पृष्ठ 281-82)

श्री पाराशरन् ने यह दलील दी कि भारत का भाग बनने वाले राज्यक्षेत्र के निवासियों के अधिकार उन निबंधनों पर निर्भर करते हैं, जिनके अधीन राज्यक्षेत्र को प्रवेश दिया (सम्मिलित किया) गया है, और अनुच्छेद 2 द्वारा संसद् को व्यापक शक्तियां प्रदत्त की गई हैं। श्री पाराशरन् ने यह तर्क दिया कि वे विचारणाएं, जो इस विषय में मार्गनिर्देश का कार्य करती हैं, अत्यधिक राजनीतिक हैं और न्यायता के क्षेत्र से बाहर हैं। श्री पाराशरन् ने यह भी कहा कि राज्य-क्षेत्र के निवासी केवल उन अधिकारों का ही दावा और प्राख्यान कर सकते हैं, जो उत्तरवर्ती संप्रभु द्वारा उन्हें अभिव्यक्त रूप से प्रदत्त किए गए हों। श्री पाराशरन् ने **विनोद कुमार शांतिलाल गोशालिया** बनाम **गंगाधार नरसिंह दास अग्रवाल**[1] वाले मामले में मु० न्या० चन्द्रचूड़ की निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों का अवलम्ब लिया:—

> "दोनों पक्षकारों की ओर से दी गई दलीलों के गुणागुणों पर विचार करने से पूर्व, जिनका प्रशासन अधिनियम और विनियम के उपबंधों से संबंध है, इस सुस्थापित विधिक स्थिति पर पुनः बल देना आवश्यक है कि जब किसी रीति में कोई नया राज्यक्षेत्र अर्जित किया जाता है—चाहे सम्मति द्वारा, समामेलन द्वारा या संधि के पश्चात् समर्पण द्वारा—तब नया "संप्रभु" उन अधिकारों द्वारा आबद्ध नहीं है, जो विजित राज्यक्षेत्र के निवासियों को अपने संप्रभु के विरुद्ध प्राप्त थे, या वह पुराने संप्रभु की अपने नागरिकों के प्रति बाध्यताओं द्वारा आबद्ध नहीं है। किसी राज्यक्षेत्र के निवासियों के अपने संप्रभु के राज्य के विरुद्ध अधिकार उस राज्यक्षेत्र की विजय, समामेलन या पर समाप्त हो जाते हैं और वे नए परिवेश को संक्रान्त नहीं होते हैं। अर्जित राज्यक्षेत्र के निवासी अपने साथ कोई अधिकार नहीं लाते हैं, जिन्हें वे नए राज्य के विरुद्ध प्रवृत्त कर सकते हों, जिस नए राज्यक्षेत्र के वे निवासी हो जाते हैं। नए राज्य से किसी भी निश्चयात्मक (स्पष्ट) प्राख्यान या घोषणा द्वारा ऐसे अधिकारों को अस्वीकार करके अपनी बाध्यता को निराकृत करने की अपेक्षा नहीं की जाती है। नया राज्य पुराने अधिकारों को पुनः प्रदत्त करके (पुनः मंजूर करके) उन्हें मान्यता प्रदान कर सकता है, जो अधिकांश मामलों में, संविदा या कार्यपालक कार्यवाही का विषय होगा या आनुकल्पिक रूप से पुराने अधिकारों की मान्यता समुचित कानूनी उपबंध द्वारा दी जा सकती है, जिसके द्वारा उन अधिकारों को संरक्षण (व्यावृत्ति) प्रदान किया जाता है, जो नियत तारीख से तुरन्त पूर्व रवृत्त थे। यह प्रश्न कि क्या नए राज्य ने पुराने अधिकारों को मान्यता प्रदान करके नई बाध्यताएं स्वीकार कर ली हैं, तथ्य का प्रश्न है, जो इस प्रश्न पर निर्भर करता है कि उसके द्वारा

---

[1] [1982] 2 उम० नि० प० 1055 = [1982] 1 एस० सी० आर० 392 = ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1946.

1993(2) eILR(PAT) SC 143

> कौन-सा मार्ग अपनाया गया है, और, यदि यह अभिकथन किया जाता है कि पुराने अधिकारों को कानूनी उपबंध द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है, तो उन अधिकारों के प्रकार को अवधारित करना आवश्यक हो जाता है, जिन्हें संरक्षण प्रदान किया गया है, और उस सीमा को भी अवधारित करना आवश्यक हो जाता है, जिस तक उन्हें संरक्षण प्रदान किया गया है।"

किन्तु हमें खेद है कि ये मताभिव्यक्तियां वर्तमान संदर्भ से संगत नहीं हैं क्योंकि यहां (इन मामलों में) स्थिति भिन्न है। उक्त तर्क में इस तथ्य की उपेक्षा की गई है कि याची अभिमिलन से पूर्व उनमें निहित ऐसे अधिकारों को प्रवृत्त कराने की ईप्सा नहीं कर रहे हैं। उन्होंने जिन अधिकारों पर बल देने और उन्हें प्रवृत्त कराने का प्रयास किया है, ऐसे अधिकार हैं, जो उन्हें भारत संघ में उनके राज्यक्षेत्र के अधिमिलन के पश्चात् प्रवृत्त किए गए हैं और जो उन्हें भारतीय नागरिकता प्रदान किए जाने के तथ्य से उद्भूत हुए हैं। वर्तमान मामलों में अधिकारों की, जो अधिकार समर्पित राज्यक्षेत्र के निवासियों के रूप में याचियों को अपने संप्रभु के विरुद्ध प्राप्त थे या पुराने संप्रभु की अपने लोगों के प्रति बाध्यताओं द्वारा प्राप्त थे मान्यता और प्रवर्तन का प्रश्न उद्भूत नहीं होता है।

मुख्य प्रश्न ये हैं कि क्या भारत संघ में नए राज्य के प्रवेश (सम्मिलित किए जाने) के लिए निबंधनों और शर्तों के विहित किए जाने के विषय में संसद् की शक्ति पर कोई सांविधानिक परिसीमाएं अधिरोपित की गई हैं; और यदि ऐसा है, तो ये परिसीमाएं क्या हैं।

65. संविधान के अनुच्छेद 2 और 4 में यह उपबंध किया गया है:—

> "2. संसद् विधि द्वारा, ऐसे निबंधनों और शर्तों पर, जो वह ठीक समझे, संघ में नए राज्यों का प्रवेश या उनकी स्थापना कर सकेगी।
>
> 4. (1) अनुच्छेद 2 या अनुच्छेद 3 में निर्दिष्ट किसी विधि में पहली अनुसूची और चौथी अनुसूची के संशोधन के लिए ऐसे उपबंध अंतर्विष्ट होंगे जो उस विधि के उपबंधों को प्रभावी करने के लिए आवश्यक हों तथा ऐसे अनुपूरक, आनुषंगिक और पारिणामिक उपबंध भी (जिनके अंतर्गत ऐसी विधि से प्रभावित राज्य या राज्यों के संसद् में और विधान-मंडल या विधान-मंडलों में प्रतिनिधित्व के बारे में उपबंध हैं) अंतर्विष्ट हो सकेंगे जिन्हें संसद् आवश्यक समझे।
>
> (2) पूर्वोक्त प्रकार की कोई विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी।"

क्या संसद् अनुच्छेद 2 के अधीन उप शक्ति के प्रयोग में निबंधन और शर्तें अधिरोपित करते समय, ऐसी शर्तें नियत और अधिरोपित कर सकती है, जो भारतीय संविधानवाद के आधारभूत सिद्धांतों से असंगत हैं या क्या यह अनिवार्य है कि नव-सम्मिलित (प्रविष्ट) राज्य को संविधान के प्रारम्भ के समय की स्थिति के अनुसार बिल्कुल अन्य राज्यों के समान ही माना जाना चाहिए। यदि नहीं, तो अनुज्ञेय विचलन और छूट की सीमा क्या है और क्या अनुच्छेद 371-च के खंड (च) में अंतर्विष्ट और सिक्किम को यथा-लागू निर्वाचन विधियों में यथा-अभिव्यक्त शर्तें इन सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय परिसीमाओं से परे हैं? यही कुछ प्रश्न हैं।

66. भारत संघ की ओर से विद्वान् महान्यायवादी और श्री पाराशरन् ने यह दलील देने का प्रयास किया कि भारत संघ में नए राज्यक्षेत्र के प्रवेश (सम्मिलित किए जाने) के लिए अनेक निबंधन और शर्तें मुख्यतः राजनैतिक प्रश्न हैं, जिनका विनिश्चय करने से न्यायालय को इंकार करना चाहिए। क्योंकि इन प्रश्नों में न्यायनिर्णयात्मक प्रकृति का सर्वथा अभाव होता है। न्यायिक शक्ति पर निर्बन्धन के रूप में "राजनैतिक जंजाल" का यह सिद्धांत न्याय-आयुर्विज्ञानीय बहस का विषय रहा है, जो गहन भी है और रोचक भी तथा जिसकी पर्याप्त न्यायिक प्रतिक्रियाएं भी हुई है।

67. "दी कांस्टीट्यूशन ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका" [अनालिसिस एंड इन्टरप्रेटेशन; कांग्रेशनल रिसर्च सर्विसः लाइब्रेरी ऑफ कांग्रेस (1982 वां संस्करण, पृष्ठ 703)] में इस विषय पर विधि का निम्नलिखित कथन है:—

> "ऐसा हो सकता है कि अवस्थिति (प्रतिष्ठा) वाले पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत मामला निश्चित रूप से न्यायालय की अधिकारिता के अन्तर्गत होगा जिसमें प्रतिकूलता और परिपक्वता, दोनों ही, अस्तित्व में रहेंगी; दूसरे शब्दों में यह ऐसा मामला होगा, जिसमें वे सभी विशेषताएं होंगी, जिस पर हमने विचार किया है और जो न्याय्य संविवाद गठित करती हैं; तथा न्यायालय, फिर भी, उनका न्याय-निर्णयन करने से इंकार कर देगा। ऐसे मामले का "लेबल" यह है कि उसमें "राजनैतिक प्रश्न" प्रस्तुत किया जाता है।"

इस सिद्धांत के मूल और विकास की खोज में लेखकों ने **मारबरी** बनाम **मैडीसन**[1] वाले मामले में मु० न्या० मार्शल की निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों के प्रति निर्देश किया है:—

> "न्यायालय की अधिकारिता, अनन्यतः, व्यक्तियों के अधिकारों के विषय में विनिश्चय करना है, न कि इस बात की जांच करना कि कार्यपालिका या कार्यपालक अधिकारी अपने कर्तव्यों का किस प्रकार निर्वहन करते हैं, जिनमें उन्हें विवेकाधिकार प्राप्त है। ऐसे प्रश्न, जो प्रकृति में राजनैतिक हैं या जो संविधान और विधि द्वारा कार्यपालिका के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं, इस न्यायालय के समक्ष कभी भी प्रस्तुत नहीं किए जा सकते हैं।"
>
> (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है।)

(1803) 1 सी० आर० 5 यू० एस० 137, 170.

इस संबंध में लेखकों ने यह भी कहा है:—

> "किन्तु इस सिद्धांत पर इससे पहले भी बल दिया जा चुका है क्योंकि वेयर **बनाम** हिल्टन, [(1796) 3 डल० 3 यू०एस० 199] वाले मामले में न्यायालय ने इस प्रश्न को अंतरित (संक्रांत) करने से इंकार कर दिया कि क्या किसी संधि का भंग हुआ था और मार्टिन **बनाम** मोट [(1827) 12 व्हीट 25 यू० एस० 19] वाले मामले में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि कांग्रेस के (प्राधिकार) के अधीन कार्य करते हुए, राष्ट्रपति को यह अवधारित करने के लिए अनन्य और अपुनर्विलोकनीय शक्ति प्राप्त हैं कि सैन्य (दल) को कब बुलाया जाना चाहिए। किन्तु लूथर **बनाम** बोर्डन [(1849) 7 एच० ओ० डब्ल्यू० यू०एस०1] वाले मामले में सर्वप्रथम इस संकल्पना को, कार्यपालक कृत्यों में हस्तक्षेप की विचारणाओं से पृथक् सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया गया।"

68. **बेकर** बनाम **कार** वाले मामले में संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय से पूर्व, उन मामलों के बारे में, जिनमें प्रभाजन, डिस्ट्रिक्टिंग, (क्षेत्रीकरण) महत्वपूर्ण (विचारित) मतदान और राजनैतिक कार्यवाही पर निर्बन्धनों द्वारा राजनैतिक शक्ति के वितरण को चुनौती दी गई थी, यह माना गया कि वे अ-न्याय्य राजनैतिक प्रश्न प्रस्तुत करते हैं। इस सिद्धांत का आधार न्यायालयों का यह प्रकट समाधान था कि उठाए गए प्रश्न (विवाद्यक) न्यायिक उत्तरदायित्व से बिल्कुल परे थे। ऊपर निर्दिष्ट **बेकर** बनाम **कार**[1] वाले मामले में न्यायालय ने "राजनीतिक प्रश्न के सिद्धांत" का सूत्रीकरण और पर्याप्त युक्तिसंगतीकरण किया, जिससे उसकी उपयोज्यता (प्रयुक्ति) को काफी सीमा तक कम कर दिया गया। बेकर बनाम कार वाले मामले में किए गए विनिश्चय और **पावेल** बनाम **मैक कोरमैक**[2] वाले मामले में बाद में, किए गए विनिश्चय का प्रभाव यह है कि संयुक्त राज्य अमरीका में कुछ विवाद, जो पहले न्यायनिर्णयन से उन्मुक्त माने जाते थे, न्याय्य माने गए और उनका गुणागुण के आधार पर विनिश्चय किया गया। इन मामलों में 'राजनैतिक जंजाल' के तर्क की अस्वीकृति अन्य क्षेत्रों में भी इस सिद्धांत के प्रवर्तन की सीमा को कम करती है।

जापान व्हेलिंग एसोसिएशन बनाम **अमेरिकन कैटसियन सोसायटी**[3] वाले मामले में अमरीकी उच्चतम न्यायालय ने यह कहा है:—

> "सर्वप्रथम हम जापानी याचियों की इस दलील पर विचार करेंगे कि वर्तमान कार्यवाहियां न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि उनमें वैदेशिक संबंध अंतर्वलित हैं और इसलिए परिसंघीय न्यायालय में कार्यपालिक शाखा के एक पदधारी—वाणिज्य सचिव को अंतरराष्ट्रीय करार को अनादृत और निराकृत करने हेतु समादेश देने की न्यायिक शक्ति का अभाव है। राजनैतिक प्रश्न के सिद्धांत का अवलम्ब लेते हुए और बेकर **बनाम** कार [(1962) 369 यू० एस० 186, 217, 7 एल०ई०डी० 2 डी 663, 82 एस० सी० टी० 691] वाले मामले को उद्धृत करते हुए, जापानी याचियों ने यह तर्क दिया है कि "एक प्रश्न पर विभिन्न विभागों द्वारा किए गए विविध (अनेक) निर्णयों से कठिनाई (परेशानी) का खतरा वर्तमान संविवाद के किसी न्यायिक समाधान को वर्जित करता है।" (पृष्ठ 178)

> "हम इससे सहमत नहीं हैं। बेकर वाले मामले में सावधानी पूर्वक यह उपदर्शित किया गया कि राजनीति से संबंधित प्रत्येक प्रश्न राजनीतिक प्रश्न नहीं होता है (वही स्रोत, पृष्ठ 209, 7 एल० ई० डी० 2 डी 663, 82 एस० सी० टी० 691), और अधिक विनिर्दिष्ट रूप से, यह मानना गलत होगा कि संविवाद का प्रत्येक मामला, जो वैदेशिक संबंधों से सम्बद्ध है, न्यायिक संज्ञान से परे होता है।" (वही स्रोत पृष्ठ 211, 7 एल० ई० डी० 2 डी 663, 82 एस० सी० टी० 691)। राजनैतिक प्रश्न का सिद्धांत ऐसे संविवादों को न्यायिक पुनर्विलोकन से अपवर्जित करता है, जो नीति चयन और मूल्य-अवधारण पर केन्द्रित होते हैं जो सांविधानिक रूप से कांग्रेस या कार्यपालिक शाखा के समाधान हेतु सुपुर्द होते हैं। ऐसे विनिश्चय करने के लिए न्यायपालिका विशेष रूप से अनुपयुक्त है क्योंकि राष्ट्रीय नीतियां विरचित करने या ऐसे विषयों के लिए, जो प्रकृति में विधिक नहीं हैं, मानक विकसित करने के लिए न्यायालय आधारभूत रूप से सुसज्जित नहीं हैं। (पृष्ठ 178)

> "तथापि जैसा कि बेकर वाले मामले में स्पष्ट रूप से अभिनिर्धारित किया गया, न्यायालयों को संधियों और कार्यपालक करारों का अर्थान्वयन करने का प्राधिकार प्राप्त है, और यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कांग्रेस के विधान का निर्वचन करना परिसंघीय न्यायालयों के लिए आवर्ती (बार-बार का) और स्वीकृत कार्य हैं। यह भी स्पष्ट है कि सचिव के,

---

[1](1962) 369 यू० एस० 186.
[2](1969) 395 यू० एस० 486.
[3](1986) 478 यू० एस० 221=92 ला एडीशन सेकेंड 166.

1993(2) eILR(PAT) SC 143

आई० डब्ल्यू० सी० कोटा के आधिक्य में हवेल मछलियों की नस्ल का विकास करने के लिए जापान को प्रमाणित न करने के विनिश्चय को चुनौती शुद्धतः कानूनी निर्वचन का विधिक प्रश्न प्रस्तुत करती है। न्यायालय को पहले संशोधनों द्वारा, सचिव पर अधिरोपित कर्तव्य की प्रकृति और परिधि को अवधारित करना चाहिए, जो ऐसा विनिश्चय है, जो कानूनी अर्थान्वयन के पारम्परिक नियमों को लागू करने की अपेक्षा करता है, उससे अधिक कुछ नहीं है, और उसके पश्चात् नीचे प्रस्तुत तथ्यों के विशिष्ट सैट को यह विश्लेषण लागू करना चाहिए। हम इन संशोधनों और इस राष्ट्र के वैदेशिक संबंधों के संचालन के बीच अंतरक्रिया परस्पर प्रभाव से अवगत है और हम उस प्रमुख भूमिका को मान्यता प्रदान करते हैं, जिस भूमिका का कांग्रेस और कार्यपालिका इस क्षेत्र में निर्वहन करते हैं। किन्तु संविधान के अधीन न्यायपालिका की विशेष भूमिकाओं में से एक भूमिका कानूनों का निर्वचन करना है और हम केवल इसलिए इस उत्तरदायित्व से बच नहीं सकते हैं कि हमारे विनिश्चय के महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिस्वर हो सकते हैं।" (पृष्ठ 178-179)

(बल देने के लिए रेखाकंन हमारे द्वारा किया गया है।)

69. हमारे न्यायालय ने इस सिद्धांत को सावधानीपूर्ण आरक्षण के साथ स्वीकार किया है। **ए० के० राय** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में, मु० न्या० चन्द्रचूड़ ने इस तथ्य को मान्यता प्रदान की है कि उक्त सिद्धांत को, जो अनिवार्यतः अमरीका में शक्तियों के पृथक्करण का कृत्य था, सावधानीपूर्वक अंगीकृत किया जाना था, और उन्होंने इस संबंध में यह कहाः—

> "यहां इस तथ्य का भी उल्लेख अवश्य ही किया जाना चाहिए कि स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका में राजनैतिक प्रश्न के सिद्धांत पर सन्देह का आवरण विवादास्पद रहा है और प्रतिकूल आलोचना की विषय-वस्तु रहा है। यह कहा गया है कि वस्तुतः इस सिद्धांत से यही अभिप्रेत है कि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग में न्यायालय को प्रज्ञापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जो यह अपेक्षा करता है कि न्यायालयों को किसी विवाद्यक की गुणता के बारे में अत्यन्त सावधानीपूर्वक विनिश्चय करना चाहिए, जिसमें विवाद्यक से संबंधित सिद्धांत के दावों और न्यायालयों की शक्ति और प्रतिष्ठा से संबंधित समीचीनता के दावों के बारे में तीव्र मतभेद (अत्यधिक विरोध) है। न्यूनाधिक रूप में परिणाम यह है कि अमरीका में "राजनैतिक प्रश्न" पद कुछ अधिक ही शब्दजाल बन कर रह गया है।"

[1][1982] 2 एस० सी० आर० 272 पृष्ठ 296=ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 710 पृष्ठ 724.

माधव राम बनाम भारत संघ[1] और राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ[2]वाले मामलों में इस न्यायालय के निर्णय में इस सिद्धांत की परिसीमा को और भी मान्यता प्रदान की गई है।

70. प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि संविधान के अनुच्छेद 2 द्वारा संसद् को विधि द्वारा निबंधनों और शर्तों पर जो वह ठीक समझे, नए राज्यों का संघ में प्रवेश करने के लिए सशक्त किया गया है और इन विचारणाओं में राजनीतिक नीति और समीचीनता, अंतरराष्ट्रीय संबंधों, राज्य की सुरक्षा और प्रतिरक्षा आदि के जटिल प्रश्न अंतर्वलित हैं, जो न्यायिक रूप से प्रबंधनीय मानकों को अधिकृत और प्रस्तुत नहीं करते हैं। यह दलील दी गई है कि इन प्रश्नों की न्यायिक प्रतिक्रिया न्यायिक अवरोध है।

संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा जोड़े गए अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) की विधिमान्यता, को इस आधार पर चुनौती दी गई है कि उक्त उपबंध में ऐसे आरक्षण का उपबंध किया गया है, जिससे 'एक व्यक्ति, एक मत' के नियम का उल्लंघन होता है, जो (नियम) जनतंत्र के लिए आवश्यक है, जो (जनतंत्र) संविधान का एक आधारभूत लक्षण है। निस्संदेह अनुच्छेद 2 के अधीन संघ में नए राज्यों का प्रवेश (को सम्मिलित) करने की शक्ति, वस्तुस्थिति को देखते हुए, बहुत ही व्यापक है और उसके प्रयोग को, अनिवार्यतः अत्यधिक जटिलता के राजनैतिक विवाद्यकों (मुद्दों) द्वारा नियंत्रित होना चाहिए, जिनमें से अनेक न्यायिक रूप से प्रबंधनीय नहीं भी हो सकते हैं। किन्तु इस कारण यह नहीं कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 2 द्वारा संसद् को न्यायिक संवीक्षा से उन्मुक्त अपुनर्विलोकनीय और अनियन्त्रित शक्ति प्रदत्त की गई है। उक्त शक्ति भारतीय संविधानवाद के आधारभूत तत्वों द्वारा सीमित की गई है, और वे निबंधन तथा शर्तें, जिन्हें संसद् अधिरोपित करना उचित समझती है, वे संविधान के आधारभूत सिद्धांतों से असंगत नहीं हो सकते हैं और सांविधानिक स्कीम का उल्लंघन और ध्वंस नहीं कर सकते हैं। ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि वे शर्तें, जिनके अधीन कोई नया राज्य या राज्यक्षेत्र संघ में सम्मिलित किया जाता है, ठीक-ठीक वैसी ही होनी चाहिए, जैसी कि वे शर्तें, जो संविधान के प्रारम्भ के समय सभी अन्य राज्यों को लागू थीं।

तथापि, यह तर्क दिया गया है कि अनुच्छेद 371-च अध्यारोही खण्ड से आरम्भ होता है और इसलिए संविधान के अन्य उपबंधों द्वारा शर्तें अधिरोपित करने की शक्ति सीमित नहीं की गई है। किन्तु अनुच्छेद 371-च संविधान के आधारभूत लक्षणों का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। अध्यारोही खण्ड का इस प्रकार अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता है कि वह अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) को स्वयं संशोधनकारी शक्ति पर अधिरोपित परिसीमा से बाहर ले जाता है। अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) और अनुच्छेद 2 के उपबंधों का सामंजस्यपरक रूप में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए, जो संविधान के आधारभूत सिद्धांतों और आधारभूत लक्षणों से संगत हो। यह प्रश्न कि क्या खण्ड (च) का संविधान के आधारभूत लक्षण को नष्ट करने का प्रभाव है, इस प्रश्न पर निर्भर करता है कि क्या स्वयं जातीय समूह पर आधारित विधान-मंडल में स्थानों का आरक्षण जनतांत्रिक सिद्धांत के लिए विनाशकारी है। इन दलीलों के

[1][1971] 3 एस० सी० आर० 9=ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 530.
[2][1977] 4 उम० नि० प० 1107= ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1361= [1978] 1 एस० सी० आर० 1.

24-251 Law & Justice/2001.

गुणागुण कुछ भी क्यों न हों, यह नहीं कहा जा सकता है कि उठाए गए विवाद्यक न्याय्य नहीं हैं।

मंगल सिंह बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह कहा है:—

> "..... वह शक्ति, जो अनुच्छेद 2 और 3 द्वारा संसद् में निहित की गई है, नए राज्यों को सम्मिलित, स्थापित या गठित करने की शक्ति है, जो संविधान द्वारा परिकल्पित जनतांत्रिक प्रतिमान के अनुरूप हैं; और वह शक्ति, जिसका संसद् द्वारा प्रयोग कर सकेगी, संविधान द्वारा यथाअनुध्यात राज्य के प्रवेश, स्थापना या गठन की पूरक, आनुषंगिक या पारिणामिक शक्ति है और वह सांविधानिक स्कीम का अतिक्रमण करने की शक्ति नहीं है।"

यदि अनुच्छेद 371-च का खण्ड (च) विधिमान्य है, तब भी यदि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के साथ पठित, अनुच्छेद 2 के अधीन बनायी गई विधि में वर्णित निबंधन और शर्तें सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय छूट से परे जाती हैं, तो उक्त विधि की विधिमान्यता को निश्चय ही प्रश्नगत किया जा सकता है। इस दलील को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उक्त उपबंधों की शक्तिमत्ता और ऐसी विधि के प्रभाव (परिणाम) न्याय्य नहीं हैं।

दलील (क) अस्वीकार किए जाने योग्य है और इसलिए वह अस्वीकार की जाती है।

निर्देशः दलील (ख), (ग) और (घ)

71. इस प्रकार अ-न्याय्यता का आक्षेप अस्वीकार हो जाने पर, याचियों ने यह दलील दी है कि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) में अंतर्विष्ट उपबंधों से जिनके द्वारा लोगों के कुछ विशेष वर्गों के लिए स्थानों का आरक्षण किया गया है, और उक्त शक्ति के प्रयोग में बनाई गई विधि से, जिसके द्वारा भूटिया-लेप्चा लोगों के आरक्षण का उपबंध किया गया है, भारतीय संविधान के अधीन जनतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों और गणतंत्रवाद का उल्लंघन होता है और उससे 'एक व्यक्ति, एकमत' के नियम का भी उल्लंघन होता है, जो ऐसा तर्क दिया गया है, संविधान के अनुच्छेद 170(2) में वर्णित 'गणतंत्र के सिद्धांत' के लिए आधारभूत है।

याचियों के विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल, श्री आर० के० जैन ने यह कहा कि स्वयं उक्त शक्ति की अविधिमान्यता के अतिरिक्त, भूटिया-लेप्चा लोगों के लिए किए गए आरक्षणों की सीमा (परिमाण) के विषय में शक्ति के प्रयोग का, नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के मतों को मूल्य को तदनुसार कम करने का प्रभाव है और उससे समानता के सिद्धांत और जनतांत्रिक सिद्धांत का ध्वंस होता है। अनुच्छेद 170 के खण्ड (1) और (2) में यह उपबंध किया गया है:—

> "170.(1) अनुच्छेद 333 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, प्रत्येक राज्य की विधान सभा उस राज्य में प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने हुए पांच सौ से अनधिक और साठ से अन्यून सदस्यों से मिलकर बनेगी।
>
> (2) खण्ड (1) के प्रयोजनों के लिए, प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में ऐसी रीति से विभाजित किया जाएगा कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या का उसको आबंटित स्थानों की संख्या से अनुपात समस्त राज्य में यथासाध्य एक ही हो।
>
> स्पष्टीकरण — इस खंड में "जनसंख्या" पद से ऐसी अंतिम पूर्ववर्ती जनगणना में अभिनिश्चित की गई जनसंख्या अभिप्रेत है, जिसके सुसंगत आंकड़े प्रकाशित हो गए हैं।"

इस उपबंध में ऋजु और प्रभावी प्रतिनिधित्व का नियम सम्मिलित किया गया है। यद्यपि "एक व्यक्ति, एक मत" का नियम जनतंत्र का व्यापक सिद्धांत है, तथापि वह गणितीय शुद्धता के साथ प्रवर्तन हेतु आदेश की तुलना में राजनैतिक आदर्श की घोषणा अधिक है। यही वे सामान्य समस्याएं हैं, जो निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन में उत्पन्न होती है। निर्वाचनों की पद्धति 'फर्स्ट-पास्ट दि पोस्ट' में, विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों के आकार-प्रकार (साइज) और मतदान करने वाली जनसंख्या में अंतर से इस आदर्श की पूर्ण प्राप्ति नहीं हो जाती है। उक्त पद्धति का यह गुण है कि उसमें "प्रतिनिधित्व" की तुलना में 'विनिश्चयात्मकता' को प्रमुखता दी जाती है।

इस तथ्य की समीक्षा करते हुए, कीथ ग्राह्म ने अपनी कृति "दि बैटल ऑफ डेमोक्रेसीः कन्फ्लिक्ट, कंसेन्स एण्ड दि इंडीविजुअल" में यह कहा है:—

> "इस प्रकार विद्यमान पद्धतियों में, जहां मतदाता प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं, विभिन्न मतों की शक्तियों के बीच घोर असमानता के उदाहरण सामने आते हैं, या तो निर्वाचन क्षेत्र के आकार-प्रकार (साइज) में विषमताओं के कारण या फर्स्ट-पास्ट-दि पोस्ट पद्धति में उत्पन्न विषमताओं के कारण उदाहरणार्थ, एक अवसर ऐसा आया, जब केलिफोर्निया राज्य का एक सीनेटर साठ लाख मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करता था और दूसरा चौदह हजार मतदाताओं का। (पोटर 1981:114); फरवरी, 1974 में इंग्लैंड में निर्वाचन-क्षेत्र 96,380 से लेकर 25,007 तक विभिन्न मतदाताओं की संख्या वाले थे। (हन्सर्ड सोसायटी कमीशन 1976:7); और यूनाइटेड किंग्डम इंग्लैण्ड में 1945 और 1976 के बीच दस निर्वाचित सरकारों में से नौ निर्वाचित सरकारों ने 50 प्रतिशत से अधिक स्थान प्राप्त किए किन्तु किसी ने भी डाले गए मतों का 50 प्रतिशत प्राप्त नहीं किया। (वही स्रोत, 9)। जब संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने इस तथ्य पर बल दिया कि उसे नागरिकों के मतों के मूल्य में भारी विषमताओं के मामले में अधिकारिता प्राप्त थी, तो यह बात महत्वपूर्ण है कि ऐसा उसने चौदहवें संशोधन के प्रति निर्देश करके किया, जिसके द्वारा विधि के समान संरक्षण की गारन्टी दी गई है।" (पृष्ठ 55)

[1] [1967]2 एस० सी० आर० 109=ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 944.

72. लोकतांत्रिक पद्धति में निहित राजनीतिक समानता की संकल्पना राजनीतिक मूल्य है। पूर्ण राजनीतिक समानता केवल सैद्धान्तिक है। वस्तुतः, जैसा कि रोडनी ब्रेजियर ने अपनी कृति "कांस्टीट्यूशनल रिफ़ार्मः रि-शेपिंग दि ब्रिटिश पोलिटिकल सिस्टम" में कहा है—

> "मतदान पद्धति में प्रतिनिधित्व के ऊपर विनिश्चायकता (निर्णायकता) का प्रभुत्व अऋजुता जटिलतापूर्वक जुड़ा हुआ है। फर्स्ट-पार्ट-दि-पोस्ट सिस्टम पद्धति एक ऐसे शक्तिशाली इंजन (साधन) के रूप में विकसित हो चुकी है, जिसका दो प्रधान दलों में से एक से सरकार बनाने के लिए अवलंब लिया जा सकता है। किन्तु इस विकास (घटना-क्रम) में हाऊस आफ कामन्स को, जो मोटे रूप में से निर्वाचक मंडल का प्रतिनिधित्व करता है, आयोजित करने का प्रयोजन कदाचित क्षीण हो गया है। सम्भवतः यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उस स्थिति में होता, यदि निर्वाचनकृत्य जीतने वाले दल को संसदीय बहुमत प्रदत्त करने वाले मतदाताओं के बहुमत के आधार पर किया जाता। तथापि, स्पष्टतः उसके द्वारा ऐसा नहीं किया जाता है। वर्ष 1983 में श्रीमती थैचर को 144-स्थान का और 1987 में 102 स्थान का प्रबल बहुमत प्राप्त हुआ, यद्यपि दोनों अवसरों पर लगभग 57 प्रतिशत मत अन्य दलों को दिये गए थे। लगभग 60 प्रतिशत मतदान करने वाले नागरिकों ने अनुदार (कन्ज़रवेटिव) सरकार के विरुद्ध मतदान किया। यह अभी हाल ही की बात नहीं है। वर्ष 1945 में एटली का 146 स्थान वाला बहुमत 48 प्रतिशत मत से कम के आधार पर ही जीता गया था और वस्तुतः 1935 के महा निर्वाचन के पश्चात् मतदाताओं के आधे या उससे अधिक भाग द्वारा किसी भी जीतने वाले दल का समर्थन नहीं किया गया है। क्या ब्रिटिश निर्वाचन-पद्धति की अच्छाइयां—सरलता, विनिश्चायकता, स्थिर सरकारें बनाने की उसकी योग्यता आदि — इतनी स्वतः स्पष्ट हैं कि वे मतदाताओं की इच्छा की ऐसी विकृतियों को न्यायोचित सिद्ध करती हैं। वस्तुतः मतदान-पद्धति को प्रतिनिधायी कृत्य पर या (जैसा की ब्रिटेन में है) निर्वाचन-कृत्य के आधार पर तैयार करना आवश्यक है।" (पृष्ठ 46)

पुनः ब्रेजियर ने अपनी कृति "कान्स्टीट्यूशनल प्रैक्टिस" (क्लेरेन्डन प्रैस ऑक्सफोर्ड) में यह कहा हैः—

> "सामान्यतः 'फर्स्ट-पास्ट-दि-पोस्ट सिस्टम' पद्धति में साधारण निर्वाचन के समय बहुमत की सरकार सामने लाने का फायदा होता है; यह पद्धति विनिश्चायक, सरल और निर्वाचकों के मध्य लोकप्रिय है। तथापि यह अऋजु भी है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि ऐसी स्कीम, जो एक राजनीतिक समूह को राष्ट्रीय मत के 22.6 प्रतिशत से 3 प्रतिशत स्थान देती है किन्तु जो दूसरे दल को मतों का मात्र आठ प्रतिशत अधिक भाग होने से 36 प्रतिशत स्थान देती है, ऋजु व्यवहार की संकल्पना के साथ अन्याय नहीं करती है, जैसा कि ब्रिटिश लोग उसे समझते हैं। वर्तमान पद्धति एक प्रकार से निर्वाचनात्मक तानाशाही को भी पुष्ट करती है, जिसे विभिन्न निर्वाचन-नियमों द्वारा जो तृतीय (और कदाचित चतुर्थ) दलों से और अधिक संसद् सदस्यों को जिताएंगे, निष्प्रभाव किया जाएगा। और हम सदन में जीते गए स्थानों के प्रति निर्देश से 'बहुमत की सरकारों' का उल्लेख करते हैं, किन्तु कोई भी सरकार 1935 के पश्चात् जनता के बहुमत से चुन कर नहीं आई है।" (पृष्ठ 191)

ऐरेण्ड लिज़फार्ट ने अपनी कृति "डेमोक्रेसी इन प्लूरल सोसाइटीज़" में यह मत व्यक्त किया हैः—

> "यद्यपि सम्प्रभु राज्यों की विविधता उच्च श्रेणी के प्रबल, प्राचीन संकट उपस्थित करती है, तथापि इन्हें एकल सरकार के ढांचे के अंतर्गत विभिन्न उद्भूत समुदायों को शान्त रखने के प्रयास में निहित खतरों के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। शान्ति की खोज के क्षेत्र में, ऐसी शान्ति पर नाक-भौंह चढ़ाने की समान प्रवृत्ति होती है, जो सम्भाव्य शत्रुओं को पृथक् कर प्राप्त की जाती है — और यह महत्वपूर्ण है कि उसे "नकारात्मक" शान्ति का लेबल दिया गया है और एकल समन्वित (एकीकृत) और न्यायसंगत समाज के अंदर भ्रातृत्व की भावना पर आधारित शान्ति (सकारात्मक शान्ति) के लिए प्रयास करने की भी प्रवृत्ति होती है।" (पृष्ठ 47)

मतों के मूल्य की समानता की समस्या ग्रामीण जनसंख्या में उत्तरोत्तर ह्रास और नगरीकरण में उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा और भी अधिक जटिल बना दी गई है। "लेजिसलेटिव अपोरशनमेण्ट की टू पावर" में विद्वान् लेखक, हावर्ड डी० हैमिल्टन ने यह कहा हैः—

> "किंतु मतदान करने के अधिकार और उसके प्रयोग से स्वतः सरकार के कार्यों में समान सहभागिता सुनिश्चित नहीं होती है।
>
> आज, राष्ट्र की स्थापना के 175 वर्षों से अधिक समय के पश्चात् — लाखों नागरिकों के मतों का, उन अऋजु फार्मूलाओं के कारण अन्य लोगों के मतों की तुलना में आधा — एक-चौथाई और 1/100 भी मूल्य है, जिनके द्वारा हम संयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस और 48 राज्यों के विधान मण्डलों का निर्वाचन करते हैं। जैसे-जैसे हमारी जनसंख्या में वृद्धि होती है और वह नगरीय केन्द्रों की ओर सतत रूप से बढ़ती है, वैसे-वैसे लाखों व्यक्तियों के मत-पत्र अन्य लोगों के मतों की तुलना में कम महत्वपूर्ण हो जाते हैं। प्रतिनिधि-सरकार की हमारी पद्धति के मूल पर ही प्रहार किया जा रहा है।
>
> इस कम प्रतिनिधित्व वाले बहुमत में द्वितीय श्रेणी के नागरिक कौन हैं। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कि

सभी अमरीकियों का, जो वर्ष 1947 में नगरीय केन्द्रों में रह रहे थे, 59 प्रतिशत भाग ने राज्य विधायकों के केवल 25 प्रतिशत भाग को ही निर्वाचित किया, संयुक्त राज्य अमरीका के महापौर सम्मेलन ने यह बताया कि वे हमारे नगरों में रहने वाले लाखों नागरिक हैं। (पृष्ठ 74)

'एक व्यक्ति, एक मत': 'ऋजु और प्रभावी प्रतिनिधित्व' [रिप्रेजेन्टेशन एण्ड मिसरिप्रेजेन्टेशन — रेण्ड मैक नैली एण्ड कम्पनी शिकागो] पर लिखते हुए, गार्डन ई० बेकर ने यह कहा:—

जहां विधायी जिलों में जनसंख्या की असमानता कोई नई चीज नहीं है, वहीं वह मुख्यतः बीसवीं शताब्दी में संविवाद का बड़ा स्रोत बन गई है।

प्रो० अरनेस्ट सी० रिओक़ जूनियर द्वारा न्यू जर्सी सीनेट के सांख्यिकीय विश्लेषण से यह प्रकट होता था कि औसत सापेक्ष जनसंख्या विचलन वर्ष 1791 में 27.5 प्रतिशत से बढ़कर 1922 में 80 प्रतिशत हो गया। सबसे बड़ी कांउटी और सबसे छोटी काउंटी के बीच अनुपात, जो उस अवधि के आरम्भ में केवल 7.85 था, अंत में बढ़ कर 33.15 हो गया। सीनेट के बहुमत का निर्वाचन करने वाले ग्रामों में निवास करने वाली राज्य की जनसंख्या का न्यूनतम प्रतिशत 41 से घटकर 15.9 प्रतिशत रह गया।" (पृष्ठ 72-73)

73. किंतु श्री जैन ने **बी०एच० रेनाल्ड बनाम एम०ओ० सिम्स**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय का अवलंब लिया, जिसमें यह मत व्यक्त किया गया:—

"निस्संदेह स्वतंत्र और जनतांत्रिक समाज में व्यस्क मताधिकार आधारभूत विषय है। विशेष रूप से, चूंकि स्वतंत्र और अहासित रीति में मतदान करने का अधिकार, अन्य आधारभूत सिविल और राजनीतिक अधिकारों का परिरक्षणकारी है, अतः मतदान करने के नागरिकों के अधिकार के किसी भी अभिकथित उल्लंघन की सावधानीपूर्वक संवीक्षा की जानी चाहिए।

विधायक लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं, न कि वृक्षों का या (भूमि के) एकड़ों का। विधायक मतदाताओं द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं, न कि फार्मों (खेतों) या नगरों या आर्थिक हितों द्वारा। जब तक हमारी सरकार का रूप प्रतिनिधायी है और हमारे विधानमण्डल प्रत्यक्षतः निर्वाचित सरकारों के उपकरण हैं और लोगों के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि, तब तक स्वतंत्र और अहासित रीति में विधायकों को निर्वाचित करने का अधिकार हमारी राजनीतिक पद्धति का मूल आधार बना रहेगा।

और यदि कोई राज्य यह उपबंध करता है कि राज्य के एक भाग में नागरिकों के मतों को राज्य के दूसरे भाग के नागरिकों के मतों की तुलना में दुगना या पांच गुना या दस गुना महत्व दिया जाना चाहिए, तो यह दलील नहीं दी जा सकती है कि उपेक्षित क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों के मत देने के अधिकार को प्रभावी रूप से कम नहीं किया गया था। यह सुझाव देना असाधारण होगा कि राज्य को ऐसी विधि अधिनियमित करने के लिए संवैधानिक रूप से अनुज्ञात किया जा सकता है, जिसमें यह उपबंध किया गया हो कि राज्य के मतदाताओं में से अमुक अपने विधायी प्रतिनिधियों के लिए दो, पांच या दस बार मतदान कर सकता था, जब कि अन्यत्र रहने वाले मतदाता केवल एक बार ही मतदान कर सकते थे।"

तथापि मु० न्या० वारेन ने यह मत व्यक्त किया:—

". . . . . हम यह महसूस करते हैं कि विधायी जिलों को इस प्रकार व्यवस्थित करना व्यावहारिक रूप से असम्भव है कि प्रत्येक जिले में निवासियों या नागरिकों या मतों की समान संख्या हो। गणितीय शुद्धता या प्रमितता व्यवहार्य सांविधानिक अध्यपेक्षा नहीं है। (पृष्ठ 536)

. . . . . जब तक कठोर जनसंख्या मानक से विचलन युक्तिसंगत राज्य नीति के प्रभावीकरण से आनुषंगिक विधिसम्मत विचारणाओं पर आधारित हैं, तब तक द्विसदनीय राज्य विधान मण्डल के एक सदन या दोनों सदनों में स्थानों के प्रभाजन की बाबत समान जनसंख्या सिद्धांत से कुछ विचलन सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय हैं।" (पृष्ठ 537)

(बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

74. आस्ट्रेलियाई संविधान की धारा 24 में यह अपेक्षा की गई है कि प्रतिनिधि सदन में कामन-वैल्थ के लोगों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने गए सदस्य होंगे। आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय ने ऊपर निर्दिष्ट रेनाल्ड बनाम सिम्स वाले मामले में वर्णित सिद्धांत पर विचार किया, जो आस्ट्रेलियाई संदर्भ में कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। **अटर्नी जनरल (सी टी एच) एक्स० आर ई एल मैककिनले बनाम दि कामनवेल्थ**[1] वाले मामले में मु० न्या० बारविक ने यह मत व्यक्त किया:—

"अतः मेरी यह राय है कि धारा 24 के द्वितीय पैराग्राफ को इस प्रकार पढ़ा और समझा नहीं जा सकता कि उसमें ऐसी कोई गारण्टी अंतर्विष्ट है कि राज्य में चुने गए सदस्यों की संख्या और उस राज्य की जनसंख्या के बीच कोई प्रमित गणितीय संबंध होगा या आस्ट्रेलिया में प्रत्येक व्यक्ति या आस्ट्रेलिया में प्रत्येक मतदाता का एक मत या एक समान मत होगा।"

न्या० मेसन ने इस संबंध में यह कहा:—

"मामले का सारतत्व यह है कि मत के मूल्य की

[1](1964) 377 यू० एस० 533 = 12 ला एड 2 डी 506.

[1](1975) 135 सी० एल० आर० 1.

1993(2) eILR(PAT) SC 143

समानता या निर्वाचन-प्रभागों के बीच समानता की संकल्पना अपेक्षाकृत आधुनिक बात है जिसके लिए हमारे संविधान द्वारा उपबंधित जनतांत्रिक प्रतिनिधि सरकार की पद्धति में कोई अनुबंध नहीं किया गया था।" (पृष्ठ 62)

75. यह सच है कि मत देने का अधिकार जनतांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेने के अधिकार के लिए केन्द्रीय भूमिका निभाता है। तथापि मतदान क्षेत्र में न्यायिक सक्रियता के औचित्य के संबंध में सिद्धांतवादियों में मतैक्य नहीं है। भारत में संविधान के अनुच्छेद 327 के अधीन बनाई गई परिसीमन विधियां विधिमान्यता की न्यायिक कसौटी से मुक्त हैं और स्थानों तथा निर्वाचन-क्षेत्रों के आबंटन की प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 329-क के आधार पर, किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं की जा सकती है। किंतु आरक्षणों का उपबंध करने वाली विधियां अनुच्छेद 332 या अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) जैसे संविधान के अन्य उपबंधों के प्राधिकार के अधीन बनाई गई हैं; इनमें से पश्चात्कथित उपबंध सिक्किम के लिए विशेष उपबंध है।

76. खण्ड (च) और निर्वाचन विधियों के अन्य उपबंधों के औचित्य और सांवैधानिकता को, जिन्हें इन याचिकाओं में आक्षेपित किया गया है, प्रत्यर्थियों द्वारा इन आधारों पर न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया गया है कि, प्रथमतः मतों के मूल्य की पूर्ण गणितीय समानता जनतंत्र की अनिवार्यता नहीं है, जिसका संविधान में आदेश किया गया हो; और दूसरे, यदि आक्षेपित उपबंधों में सहनशीलता-परिसीमाओं और सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय छूट से विचलन किया भी गया हो, तब भी उत्पन्न होने वाले विभेद उन ऐतिहासिक विचारणाओं के आधार पर न्यायोचित सिद्ध होते हैं, जो सिक्किम की राजनीतिक संस्थाओं के विकास-क्रम में विशिष्ट स्थान रखते हैं। यह दलील दी गई है कि खण्ड (च) में अंतर्विष्ट विशेष उपबंधों का यही औचित्य है; जो इस विशेष स्थिति से निपटने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से आशयित था। यह उपदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि उस संपूर्ण अवधि के दौरान, जब सिक्किम में उत्तरदायी सरकार का विचार अंकुरित हुआ, एक ओर भूटिया-लेप्चा लोगों और दूसरी ओर नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के बीच उस नाजुक संतुलन को बनाए रखने का सतर्कतापूर्ण राजनीतिक प्रयास किया गया है, जो उक्त पर्वतीय राज्य की सामाजिक स्थिरता के लिए आवश्यक है। अनुच्छेद 371-च का खण्ड (च) बाद में आने वाले नेपाली लोगों के आधिपत्य को निवारित करने के लिए आशयित था, जिनकी समयानुक्रम में मूल निवासियों से अधिक संख्या हो गई थी। यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 371-च (च) और सिक्किम से संबंधित निर्वाचन विधियों में यही उपबंध किया गया है कि सिक्किम और उसकी राजनीतिक संस्थाओं के विकास की विशिष्ट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इस संतुलन को बनाए रखा जाए।

77. जहां तक संघ का संबंध है, यह दलील दी गई है कि यद्यपि वह अनिवार्यतः बौद्धों की धार्मिक संस्था था, तथापि उसे सिक्किमी समाज के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में विशिष्ट स्थिति प्राप्त थी और इसलिए उसके लिए आरक्षित एक स्थान 'केवल' धर्म की विचारणाओं पर आधारित नहीं कहा जा सकता। सिक्किम जनजाति कल्याण संगम द्वारा फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र में, सिक्किम की राज्य व्यवस्था में संघ की स्थिति के कतिपय विशेष पहलुओं पर बल दिया गया है। इस संबंध में "दि हिमालयन गेट वे" (हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ सिक्किम) के कुछ उद्धरणों के प्रति निर्देश किया गया है और उनका अवलंब लिया गया है, जिनमें निम्नलिखित अंश वर्णित हैं:—

> "संघ के लिए आरक्षण राज्य के राजनीतिक तंत्र का सबसे अधिक विशिष्ट लक्षण है। वह निरन्तरता की स्वीकृति (रियायत) है और स्वीकृततः वह अल्पावधि के लिए है। क्रान्ति से पूर्व, लामाओं के बौद्ध संघ को धार्मिक और राजनीतिक, दोनों ही प्रकार की, अत्यधिक शक्ति प्राप्त थी। लोगों का उनकी बुद्धिमत्ता और न्याय में बहुत अधिक विश्वास रहा है। उनका सामान्य रूप से सम्मान किया जाता है और अब भी उनका ऐसे लोगों के वर्ग में काफी प्रभाव है, जो निर्धन और राजनीतिक रूप से पिछड़े कहे जाते हैं। विधान सभा में उनके प्रतिनिधियों में से एक प्रतिनिधि की उपस्थिति संभवतः निरक्षर जनता को उसकी कार्यवाहियों में अधिक विश्वास दे सकती है। (पृ० 149)

> अन्त में, लामावाद एक सामाजिक संगठन है। लामाओं (कुछ कम सीमा तक, भिक्षुणियों) को अनुशासनबद्ध अधिक्रम में रखा जाता है। वे समाज का ऐसा वर्ग हैं, जो संपूर्ण समाज के लिए उसके धार्मिक कृत्यों का निष्पादन करता है; बदले में शेष समाज को लामाओं को भौतिक सहायता देनी चाहिए . . . . . । (पृ० 192-193)

> यह संगणित किया गया है कि समुच्चयित भूटिया-लेप्चा जनसंख्या का लगभग 10% भाग भिक्षु (मठवासी) है। क्या लोगों की आध्यात्मिक विरासत के लिए इससे अधिक स्पष्ट और कोई चीज हो सकती है। परम्परा के अनुसार, प्रत्येक भूटिया घर का द्वितीय पुत्र संघ — बौद्ध भिक्षुओं की संस्था — को दे दिया जाता है। कहीं भी चले जाइए, आपको गोम्पा नामक मठ हर जगह मिल जाएगा। सिक्किम जैसे छोटे राज्य में, जिसमें बौद्ध भूटिया-लेप्चा जनसंख्या कदाचित् 30,000 से अधिक नहीं होगी, 30 से अधिक प्रसिद्ध मठ हैं। वास्तव में, देश के अधिकांश शिखरों पर मठ या मंदिर स्थित हैं। इनके अतिरिक्त, प्रत्येक ग्राम में गोम्पा या ग्राम-मठ है, जहां निवासी लामा छोटे से समाज की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मूल बौद्ध स्तूप का लामाई रूप चोरटेन भी प्रायः देखने को मिलता है। (पृ० 112-113)

> ग्रामों में जीवन बौद्ध भिक्षुओं, लामाओं के मठों पर केन्द्रित है। जन्म, मृत्यु और बीमारी — ये सब ऐसे अवसर हैं, जिन पर समुचित संस्कारों के संपादन के लिए लामाओं को बुलाया जाता है। प्रार्थना पताका (ध्वज) लगाने के लिए भी लामाओं की उपस्थिति आवश्यक होती है। (पृ० 115)

> . . . . . चूंकि शासकगण अवतारी लामा भी थे, जो बराबर तिब्बत के उच्च लामाओं और भूटान के देव-राजा के

साथ संपर्क में रहते थे, अतः इन भिक्षुओं का विभिन्न राज्य-कार्यों की बाबत दूतों, मध्यस्थों और व्यवस्थापकों के रूप में उपयोग किया जाता था। आन्तरिक प्रशासन में भी इन भिक्षुओं को महत्वपूर्ण पद (स्थितियां) प्राप्त थे। उन्हें राज्य परिषद् में नियुक्त किया जाता था, वे मठों की सम्पदाओं का प्रबंध करते थे, न्याय प्रशासन करते थे और शत्रुओं के विरुद्ध लड़ाई में सामान्य जनता की सहायता भी करते थे। यद्यपि आर्थिक रूप से वे दूसरों पर आश्रित थे, तथापि दरबार और सार्वजनिक जीवन में वे अत्यधिक प्रभावशाली थे। वस्तुतः ये भिक्षु ही काजियों के सहयोग से राज्य का काम काज देखते-भालते थे।" (पृ० 18,19)

78. जैसी कि पहले ही अवेक्षा की जा चुकी है, अनुच्छेद 2 द्वारा उन निबन्धनों और शर्तों के विहित किए जाने के विषय में व्यापक छूट दी गई है, जिनके अधीन किसी नए राज्यक्षेत्र का प्रवेश (विलय) किया जाता है। ऐसा कोई सांविधानिक आदेश नहीं है कि उन निबन्धनों और शर्तों द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि नया राज्य, सभी पहलुओं में, भारत संघ के अन्य राज्यों के समान ही होगा। तथापि उक्त निबन्धनों और शर्तों द्वारा सरकार की ऐसी पद्धति और रूप या ऐसी राजनीतिक और सरकारी संस्थाएं स्थापित करने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए, जो संविधान की परिकल्पना से असंगत और आधारभूत रूप से भिन्न हों।

वस्तुतः "कांस्टीट्यूशनल ला आफ इंडिया" में (न्या० हिदायतुल्ला द्वारा संपादित और भारतीय विधिज्ञ परिषद् न्यास द्वारा प्रकाशित) यह मत व्यक्त किया गया है—

> "विदेशी राज्यक्षेत्र, जो अर्जन के पश्चात अनुच्छेद 1 (3) (ग) के अधीन भारत के राज्यक्षेत्र का एक भाग बन जाते हैं, अनुच्छेद 2 के अधीन पारित विधि द्वारा भारत संघ में प्रविष्ट (सम्मिलित) किए जा सकते हैं ऐसे राज्यक्षेत्र को, ऐसे निबन्धनों और शर्तों पर, जिन्हें संसद् ठीक समझे, भारत संघ में सम्मिलित किया जा सकता है या नए राज्यों के रूप में गठित किया जा सकता है। ऐसे राज्यक्षेत्र की बाबत अनुच्छेद 3 के खण्ड (क) या (ख) के अधीन भी कार्यवाही की जा सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत संघ में सम्मिलित करने के लिए या नया राज्य स्थापित करने के लिए, संसदीय विधि आवश्यक है और इस प्रकार सम्मिलित या स्थापित नया राज्य अन्य भारतीय राज्यों के साथ पूर्ण बराबरी का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि संसद् को ऐसे निबन्धनों और शर्तों पर किसी राज्यक्षेत्र को सम्मिलित करने या नया राज्य स्थापित करने की शक्ति प्राप्त है, जिन्हें वह ठीक समझे।" (खण्ड 1, पृ० 58)
>
> (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है।)

79. अनुच्छेद 2 के अधीन सांविधानिक शक्ति जैसी शक्ति के प्रयोग की शक्तिमत्ता के न्यायिक पुनर्विलोकन में, संसद् द्वारा ठीक माने गये विनिश्चय के राजनीतिक संघटकों के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है, जब तक उक्त शर्तों से संविधान के आधारभूत तत्वों का उल्लंघन नहीं होता। किसी सांविधानिक दस्तावेज के निर्वचन में, "शब्द संकल्पनाओं का ढांचा मात्र हैं और स्वयं शब्दों की तुलना में संकल्पनाएं काफी सीमा तक बदल भी सकती हैं।" स्वयं संकल्पनाओं के परिवर्तन का महत्व बहुत अधिक है और उनके विकास के आधार की स्वीकृति के बिना, मात्र शब्दों के अर्थ पर बल देकर ही सांविधानिक विवाद्यकों का समाधान नहीं किया जाता है। उचित ही यह कहा गया है कि संविधान का आशय सिद्धान्तों की रूपरेखा प्रस्तुत करना है, न कि विवरणों पर बल देना।

संविधान के अनुरूप दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए, एक विद्वान् लेखक ने एक अन्य परिसंघीय दस्तावेज का उल्लेख करते समय, यह कहा है।

> (दि आस्ट्रेलियन लॉ जर्नल, खण्ड 43, पृ० 256)
>
> "एक क्षण के चिन्तन से ही यह दर्शित हो जाएगा कि उस समय उदार दृष्टिकोण प्रायः अनिवार्य है, जब ऐसी शक्तियों द्वारा राष्ट्र के कार्यों को विनियमित करने की ईप्सा की जाती है, जिनका वितरण दो या अधिक राजनीतिक अभिकरणों के वर्गों में किया जाता है, जो सदा सर्वाधिक तर्कसंगत रीति में नहीं होता है। इस आधार से उत्पन्न होने वाली कठिनाई उस रीति द्वारा और बढ़ा दी गई हैं, जिसमें आस्ट्रेलियाई संविधान बनाया गया। उक्त संविधान का अनेक लोगों द्वारा प्रारूपण किया गया, उसके पश्चात् उसे राजनीतिक बहस के झंझट में डाला गया, जहां प्रायः समझौते, सौदेबाजी से और समीचीनता की कीमत पर मतैक्य को खरीदा जाता है।"

80. सांविधानिक स्कीम की परीक्षा से यह उपदर्शित होगा कि "एक व्यक्ति, एक मत" की संकल्पना, स्वप्रकृत्या, असंतुलनों और अत्यधिक कठोरप्रयुक्ति (लागू किया जाना) और प्रवर्तन से विचलनों को काफी सीमा तक सहन करती है। संविधान का वह उपबंध, जिसमें प्रतिनिधित्व की आनुपातिकता उपदर्शित की गई है, अनिवार्यतः एक व्यापक, साधारण और तर्कसंगत सिद्धांत है किंतु उसका गणितीय प्रमितता के साथ व्यक्त किया जाना आशयित नहीं है। अनुच्छेद 332 (3क) और 333 इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं। प्रतिनिधित्व की गणितीय आनुपातिकता का सिद्धांत भारत राज्यक्षेत्र के प्रत्येक भाग में घोषित आधारभूत अध्यपेक्षा नहीं है। भारत के विभिन्न भागों में राजनीतिक परिपक्वता, सजगता और राजनीतिक विकास की मात्रा को ध्यान में रखते हुए, समंजन और समायोजन देश के कुछ भागों में पूर्णतः या भागतः अ-निर्वाचित विधानसभाओं के लिए भी औचित्य प्रदान कर सकते हैं। देश के विभिन्न भागों में राजनीतिक विकास और परिपक्वता के विभिन्न परिमाण गणितीय शुद्धता पर आधारित मानकों को न्यायोचित नहीं भी ठहरा सकते हैं। अनुच्छेद 371-च, जो नागालैण्ड राज्य की बाबत एक विशेष उपबंध है, अनुच्छेद 239-क और अनुच्छेद 240 विचलन के अनुज्ञेय क्षेत्रों और परिमाणों को स्पष्ट करते हैं। पूर्ण और प्रभावी प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के अतिरेक में व्यवस्थागत कमियों को सांविधानिक दर्शन में इस प्रकार नहीं समझा गया है कि वे जनतांत्रिक सिद्धांत के अल्पीकरण में हैं। वस्तुतः मामले में, इस परिप्रेक्ष्य में दिया गया तर्क वास्तव में समानता के सिद्धांत

1993(2) eILR(PAT) SC 143

का उल्लंघन करता है, न कि जनतांत्रिक सिद्धांत का। वर्तमान मामले में प्रतिनिधित्व में असमानताएं विगतकाल की विरासत और बाध्यताएं हैं। ऐतिहासिक विचारणाओं से विभेदकारी व्यवहार का औचित्य सिद्ध हो जाता है।

अनुच्छेद 371-च(च) के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उससे जनतांत्रिक सिद्धांत जैसे संविधान के किसी आधारभूत लक्षण का उल्लंघन होता है।

81. वर्ष 1975 से और आगे, जब आक्षेपित उपबंध अधिनियमित किए गए, सिक्किम राजनीतिक समाज और राजतंत्रात्मक पद्धति से विकसित हो कर जीवन की जनतांत्रिक पद्धति और औद्योगिक सभ्यता की मुख्य धारा में सम्मिलित हो रहा है। इस राजनीतिक रूपांतरण की प्रक्रिया और प्रगति अनिवार्यतः विगतकाल की उसकी संस्थाओं पर निर्भर करती (अवलम्बित) है। संविधान का अस्तित्व मात्र, स्वतः सांविधानिक वाद या सांविधानिक संस्कृति को सुनिश्चित नहीं करता है। लोगों की राजनीतिक परिपक्वता और परम्पराएं ही संविधान को अर्थ प्रदान करती हैं, जिसमें अन्यथा राजनीतिक आशाएं और आदर्श सन्निविष्ट मात्र होते हैं। अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के उपबंध और निर्वाचन विधियों में पारिणामिक परिवर्तन सिक्किम की राजनीतिक संस्थाओं के विकास की गति को मान्यता प्रदान करने और उसे उचित स्थान देने तथा इस परिवर्तन को क्रमिक और शान्तिपूर्ण बनाने तथा जातीय निष्ठा और पहचान के आधार पर जनसंख्या के एक भाग के दूसरे भाग पर आधिपत्य को निवारित करने के लिए आशयित थे। ये समायोजन और समंजन सामाजिक संतुलन बनाए रखने के लिए राजनीतिक समीचीनता को परिलक्षित करते हैं। राजनीतिक और सामाजिक परिपक्वता और आर्थिक विकास समयानुक्रम में सिक्किम के लोगों को इन जातीय आशंकाओं और असंतुलनों को दूर करने में सहायक हो सकते हैं और भविष्य में ऐसी आशा की जाती है कि शीघ्र ही वहां समतावादी व्यवस्था स्थापित होगी। वस्तुतः, आक्षेपित उपबंध स्वप्रकृत्या, सिक्किम के राजनीतिक विकास में एक अस्थायी दौर (संक्रमण के चरण) को अनुध्यात और उपबंधित करते हैं। तथा वे प्रकृति में अनिवार्यतः अस्थायी हैं।

यह सच है कि आक्षेपित उपबंधों द्वारा लाए गए प्रकार और विस्तार के स्थानों का आरक्षण, यदि उसे संघ के विद्यमान राज्यों को लागू किया जाता है, सांविधानिक कसौटी पर सही नहीं भी उतर सकता है। किंतु संघ में प्रविष्ट (सम्मिलित) नए राज्यक्षेत्र के संबंध में, निबंधन और शर्तें ऐसी नहीं हैं कि वे अनुज्ञेय सांविधानिक परिसीमाओं से बाहर रहें। एतिहासिक विचारणाएं और बाध्यताएं असमानता और विशेष व्यवहार को न्यायोचित ठहराती हैं। **लक्ष्मण दास** बनाम **पंजाब राज्य** वाले मामले में इस न्यायालय ने यह कहाः—

> "अब यह विधि सुस्थापित है कि जहां अनुच्छेद 14 द्वारा एक व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग के विरुद्ध निदिष्ट विभेदकारी विधान को प्रतिषिद्ध किया गया है, वहीं उसके द्वारा युक्तिसंगत वर्गीकरण को निषिद्ध नहीं ठहराया गया है, और इस प्रयोजन के लिए एक व्यक्ति या व्यक्तियों का एक समूह भी वर्ग हो सकता है। प्रो० विलिस ने अपने कृति "कान्स्टीट्यूशनल लॉ" (पृष्ठ 580) में यह कहा है—"एक व्यक्ति या व्यक्तियों के एक वर्ग को लागू होने वाली विधि संवैधानिक है, यदि उसके लिए पर्याप्त आधार या कारण मौजूद है.....।" और यदि राज्यों के पुनर्गठन और पंजाब में पेप्सू यूनियन के एकीकरण के पश्चात् राज्य के विभिन्न भागों को विभिन्न विधियां लागू होती हैं, तो ऐसा ऐतिहासिक कारणों से है और उसे अनुच्छेद 14 के अधीन वर्गीकरण के समुचित आधार के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।"

मध्य प्रदेश राज्य बनाम **भोपाल शुगर इंडस्ट्रीज़ लिमिटेड**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह कहाः—

> "..... विधान मण्डल को विशेष उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विशेष विधियां बनाने की सदा शक्ति प्राप्त रही है और उस प्रयोजन के लिए उसे व्यक्तियों, वस्तुओं या संव्यवहारों का चयन या वर्गीकरण करने का प्राधिकार प्राप्त है, जिन पर विधि का प्रवर्तन आशयित है। विभेदकारी व्यवहार केवल उस स्थिति में ही विधिविरुद्ध होता है, जब वह मनमाना हो या उसका कानून के उद्देश्य से युक्तियुक्त संबंध द्वारा समर्थन न होता हो.....। जहां असमान विधियों की प्रयुक्ति (लागू किए जाने) को ऐतिहासिक कारणों से युक्तिसंगत रूप में न्यायोचित ठहराया जाता है, वहां उन ऐतिहासिक कारणों पर आधारित भौगोलिक वर्गीकरण कायम रखा जाएगा।"

हमारा यह मत है कि संसद् की प्रज्ञा के अनुसार, संघ में महत्वपूर्ण सीमांत राज्य के प्रवेश के लिए आक्षेपित उपबंध आवश्यक पाए गए हैं। विचलन ऐसे नहीं हैं, जो जनतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों को ही नकार देते हों। तदनुसार हम दलील (ख), (ग) और (घ) का भी याचियों के विरुद्ध उत्तर देते हैं।

निर्देशः दलील (ञ) और (च)

82. श्री जैन ने यह निवेदन किया कि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) की यह अपेक्षा है कि सिक्किम की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करने के प्रयोजन के लिए जहां कहीं स्थानों के आरक्षण हेतु उपबंध आवश्यक समझे जाते हैं, वहां ऐसे आरक्षण सभी वर्गों के लिए किए जाएंगे, न कि उनमें से केवल एक वर्ग के लिए, जैसी कि स्थिति इस मामले में है। इस दलील में इस तथ्य की उपेक्षा की गई है कि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) में अंतर्विष्ट उपबंध मात्र समर्थनकारी है। यदि संसद् द्वारा केवल एक वर्ग के लिए आरक्षण किया जाता है, तो विवक्षा द्वारा उसका यह अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि उसने नकारात्मक अर्थ में अन्य वर्गों का सम्मान करते हुए, शक्ति का प्रयोग किया है। वस्तुतः उक्त उपबंध द्वारा किसी विशेष वर्ग तक ही सीमित आरक्षण को समर्थ (सम्भव) बनाया गया है।

83. श्री जैन ने यह दलील दी कि भूटिया और लेप्चा लोगों को संविधान (सिक्किम अनुसूचित जनजातियां) आदेश, 1978 के अधीन

---

[1] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 222.

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1179 =[1964] 6 एस० सी० आर० 846.

अनुसूचित जनजातियों के रूप में घोषित किया गया था और उनके पक्ष में आरक्षण की सीमा को अनिवार्यतः संविधान के अनुच्छेद 332 (3) के उपबंध लागू होंगे, जिसमें यह अपेक्षा की गई है कि आरक्षित किए जाने वाले स्थानों की संख्या का अनुपात उस विधान सभा में स्थानों की कुल संख्या से यथाशक्य वही होगा, जो राज्य में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या का राज्य की कुल जनसंख्या से है। किंतु हमारी राय में, अनुच्छेद 371-च का खण्ड (च) अनुच्छेद 332 (3) से विचलन को समर्थ बनाने के लिए है। अध्यारोही खण्ड का, जिससे अनुच्छेद 371-च आरम्भ होता है, यही स्पष्ट क्रियात्मक (प्रवर्तनकारी) प्रभाव है।

श्री जैन ने कतिपय जनसंख्या आंकड़ों की सहायता से यह उपदर्शित किया है कि बीस प्रतिशत की जनसंख्या के लिए वर्तमान मामले में 38 प्रतिशत आरक्षण की मात्रा अननुपातिक है। इस तथ्य को भी ऐतिहासिक घटना-क्रम और राजनीतिक शक्ति के प्रभाजन के नियमों की पृष्ठभूमि में देखा जाना है, जो भारत में सिक्किम राज्यक्षेत्र के विलय से पूर्व विभिन्न समूहों में प्रवर्तित थे। हर प्रक्रम पर समानता बरती गई थी।

हमारी यह राय है कि विशेष स्थिति में उपबंध और अनुज्ञेय छूट असंवैधानिक नहीं कही जा सकती है।

निर्देशः दलील (छ)

यह दलील दी गई है कि संघ के पक्ष में एक स्थान का आरक्षण, जो संघ बौद्ध लामाई धार्मिक मठों का संघ है, पूर्णतः धार्मिक विचारणाओं पर आधारित संघ है और उससे संविधान के अनुच्छेद 15(1) और 325 का उल्लंघन होता है और उसके धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों का भी उल्लंघन होता है। 'संघ' के लिए, जिसका स्वयं अपना विशेष निर्वाचक-मण्डल है, एक स्थान का आरक्षण प्रथमदृष्ट्या पृथक् निर्वाचक-मण्डल के विचार को आगे बढ़ाने वाला प्रतीत हो सकता है, जो देश की एकता और अखण्डता के लिए हानिकर माना जाता है।

संघ, बुद्ध और धर्म, बौद्ध मत के तीन आधारभूत तत्व और प्रतीक हैं। उस अर्थ में वे धार्मिक संस्थाएं हैं। तथापि, सिक्किम की राजनीतिक संस्थाओं के विकास के इतिहास पर साहित्य की, जिसका पहले उल्लेख किया गया है यह दर्शित करने की प्रवृत्ति है कि संघ ने सिक्किमी लोगों के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उसने सिक्किम की संस्कृति और राजनीतिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया था। इस निष्कर्ष की पुष्टि करने के लिए सामग्री मौजूद है कि 'संघ' काफी लम्बे समय तक सिक्किम के राजनीतिक घटना-क्रमों से निकटतापूर्वक संबद्ध रहा था और वह उसके लोगों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन से जुड़ा रहा था। इस ऐतिहासिक सहयोजन को देखते हुए, संघ के लिए एक स्थान के आरक्षण के विषय में उपबंधों में, उसकी पूर्णतः धार्मिक पहचान की तुलना में इस संस्था की सामाजिक और राजनीतिक भूमिका को अधिक मान्यता प्रदान की गई है। सिक्किम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उसके सामाजिक और राजनीतिक विकास को देखते हुए, उक्त उपबंध का वस्तुतः इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना है कि उसमें पृथक् निर्वाचक-मण्डल के अननुज्ञेय विचार का अवलंब नहीं लिया गया है। वास्तव में, उक्त उपबंध अनुच्छेद 333 के सदृश है, जिसमें आंग्ल-भारतीय समुदाय के लिए प्रतिनिधित्व का उपबंध किया गया है। जहां तक संघ के लिए उपबंध का संबंध है, उसे नामनिर्देशन को समर्थ बनाने वाले उपबंध के रूप में ही देखा जाना है किंतु नाम-निर्देशिती का चयन 'स्वयं संघ' के लिए छोड़ा जाना है। हम इस तथ्य से अवगत हैं कि किसी धार्मिक सम्प्रदाय के लिए पृथक् निर्वाचक-मण्डल हमारे धर्मनिरपेक्ष संविधान के आधारभूत सिद्धांतों के लिए हानिकर होगा। यदि पृथक् निर्वाचक-मण्डल के आधार पर किसी धार्मिक समूह के सदस्य के निर्वाचन के लिए धार्मिक विचारणाओं के आधार पर ही उपबंध किया जाता है, तो वस्तुतः वह पूर्णतः असंवैधानिक होगा। किंतु संघ के मामले में, वह केवल धार्मिक संस्था ही नहीं है। वह सिक्किम में ऐतिहासिक रूप से एक राजनीतिक और सामाजिक संस्था रहा है और आरक्षित स्थान के संबंध में उक्त उपबंधों का नामनिर्देशन के रूप में अर्थान्वयन किया जाना उचित है और 'स्वयं संघ' को अपने नामनिर्देशिती के चयन (की पसंद) का काम सौंपा गया है और उसे उपदर्शित करने के लिए उसे समर्थ बनाया जाना है। इस अर्थान्वयन के आधार पर उक्त उपबंध को कायम रखा जा सकता है। दलील (छ) का तदनुसार उत्तर दिया जाता है।

84. पूर्वगामी कारणों से, सभी याचिकाएं, खर्चों के संबंध में किसी आदेश के बिना, खारिज की जाती हैं।

न्यायमूर्ति एस० सी० अग्रवाल—

85. अपने विद्वान् बंधुओं के प्रति सम्यक् सम्मान दर्शित करते हुए, जिनके लिए मैं उच्चतम सम्मान (की भावना) रखता हूं, मैं इन निर्णयों में व्यक्त मतों से पूर्णतः सहमत होने में अपनी असमर्थता व्यक्त करने में खेद का अनुभव करता हूं। अतः मेरे लिए उन विभिन्न प्रश्नों पर, जो विचारार्थ उद्भूत हुए हैं, पृथक् रूप से अपना मत व्यक्त करना आवश्यक हो गया है।

86. ये मामले रिट याचिकाओं से उद्भूत हुए हैं, जो मूलतः सिक्किम उच्च न्यायालय में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल की गई थीं और अब संविधान के अनुच्छेद 188-क के अधीन निपटारे के लिए इस न्यायालय को अंतरित कर दी गई हैं। उनमें निर्वाचन विधियां (सिक्किम को विस्तार) अधिनियम, 1976 (1976 का अधि०सं० 10) (जिसे इसमें इसके पश्चात् "1976 वाला अधिनियम" कहा गया है) और लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 (1980 का अधिनियम सं० 8) (जिसे इसमें इसके पश्चात् "1980 वाला अधिनियम" कहा गया है) द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "1950 वाला अधिनियम" कहा गया है) और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "1951 वाला अधिनियम " कहा गया है) में अंतःस्थापित उपबंधों की विधिमान्यता को चुनौती अंतर्वलित है, जिसके द्वारा (i) सिक्किम विधान सभा में 32 स्थानों में से 12 स्थान भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित रखे गए हैं, और (ii) एक स्थान संघों के लिए आरक्षित रखा गया है और संघ के लिए आरक्षित स्थान के लिए निर्वाचन के एक पृथक् निर्वाचक नामावली के आधार पर संचालित किए जाने की अपेक्षा की गई है, जिसमें केवल सिक्किम के लिए विधान सभा का गठन करने के लिए अप्रैल, 1974 में सिक्किम में आयोजित निर्वाचनों के प्रयोजन के लिए मान्यता प्राप्त मठों के संघ ही रजिस्ट्रीकृत किए जाने के लिए हकदार हैं।

87. उन प्रश्नों को, जो विचारार्थ उद्भूत हुए हैं, ठीक-ठीक समझने के लिए उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के प्रति संक्षिप्त निर्देश आवश्यक होगा, जिसमें आक्षेपित उपबंध अधिनियमित किए गए।

88. सिक्किम में मुख्यतः लेप्चा-भूटिया और नेपाली लोग रहते हैं। लेप्चा लोग मूल निवासी हैं। 15वीं और 16वीं शताब्दी में किसी समय भूटिया लोग तिब्बत के खाम स्थान से यहां (सिक्किम) आए और उनके एक सरदार को वर्ष 1642 में चोग्याल या धार्मिक और लौकिक शासक के रूप में अभिषिक्त किया गया (सिंहासन पर बिठाया गया) लेप्चा और भूटिया बौद्ध हैं। पिछली शताब्दी के अंत तक सिक्किम ब्रिटिश संरक्षित राज्य हो गया और वह वर्ष 1947 तक इसी रूप में बना रहा जब भारत में ब्रिटिश शासन का अंत हो गया। इस अवधि के दौरान, जब वह ब्रिटिश संरक्षित राज्य था, बड़े पैमाने पर नेपाली लोगों का सिक्किम में आप्रवास (आना) हुआ और उसके परिणामस्वरूप 1947 तक नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों की संख्या अन्य लोगों की तुलना में 2:1 के अनुपात में अधिक हो गई। वर्ष 1947 में ब्रिटिश शासन का अंत होने के पश्चात्, सिक्किम भारत सरकार के संरक्षण के अधीन आ गया। तारीख 3 दिसंबर, 1950 को सिक्किम के महाराजा ने भारत के राष्ट्रपति के साथ एक संधि की, जिसके द्वारा यह करार किया गया कि सिक्किम भारत का संरक्षित राज्य बना रहेगा और वह संधि के उपबंधों के अधीन अपने आंतरिक मामलों में स्वायतता का उपभोग करेगा।

89. तारीख 28 दिसंबर, 1952 को सिक्किम के शासक ने राज्य परिषद् के सदस्यों के निर्वाचन का उपबंध करने के लिए एक उद्घोषणा जारी की। उक्त उद्घोषणा में परिषद् में 12 निर्वाचित सदस्य परिकल्पित किए गए थे, जिनमें से 6 भूटिया-लेप्चा और 6 नेपाली (मूल के) होने थे। तारीख 23 मार्च, 1953 को राज्य परिषद् और कार्यकारी परिषद् उद्घोषणा 1953 नामक एक और उद्घोषणा जारी की गई। उसमें 18 सदस्यों की राज्य परिषद् का उपबंध किया गया (एक अध्यक्ष जिसका नाम-निर्देशन और नियुक्ति महाराजा द्वारा की जानी थी, 12 निर्वाचित सदस्य और पांच नामनिर्देशित सदस्य थे)। निर्वाचित सदस्यों में से 6 सदस्य सिक्किमी भूटिया या लेप्चा समुदाय के होने थे और शेष 6 सदस्य सिक्किम के नेपाली होने थे। तारीख 16 मार्च, 1958 की उद्घोषणा द्वारा, परिषद् की सदस्य संख्या बढ़ा कर 20 कर दी गई। नामनिर्देशित सदस्यों के लिए 6 स्थान बनाए रखे गए और, भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए 6 स्थान तथा नेपाली लोगों के लिए 6 स्थानों का आरक्षण कायम रखते हुए, यह उपबंध किया गया कि एक साधारण स्थान होगा और एक स्थान संघ के लिए आरक्षित किया जाएगा। उसमें यह भी उपबंध किया गया कि संघ के लिए आरक्षित स्थान हेतु मतदान सिक्किम दरबार (सिक्किम शासक) द्वारा मान्य मठों के संघों के निर्वाचक-मण्डल द्वारा किया जाएगा।

90. तारीख 21 दिसंबर, 1966 की उद्घोषणा द्वारा, जो सिक्किम के चोग्याल (शासक) द्वारा जारी की गई थी और जो सिक्किम नागरिक प्रतिनिधित्व विनियमन, 1966 के रूप में ज्ञात है, सिक्किम परिषद् की संरचना और निर्वाचन से संबंधित विधियों में कुछ अनुकूलन और उपांतरण किए गए। उक्त उद्घोषणा के अधीन, सिक्किम परिषद् में निर्वाचन के प्रयोजन के लिए सिक्किम को पांच प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों, एक साधारण निर्वाचन क्षेत्र और एक संघ निर्वाचन-क्षेत्र के रूप में विभाजित किया गया। साधारण निर्वाचन क्षेत्र में संपूर्ण सिक्किम समाविष्ट रहना था और संघ निर्वाचन क्षेत्र में सिक्किम दरबार द्वारा मान्य मठों के संघ समाविष्ट होने थे। यह भी घोषित किया गया कि अध्यक्ष के अतिरिक्त, जिसे चोग्याल द्वारा नियुक्त किया जाना था, सिक्किम परिषद् में 24 सदस्य होंगे, जिनमें से 7 भूटिया-लेप्चा समुदाय के होने थे और 7 सिक्किम के नेपाली लोगों के वर्ग के होने थे, जिनका 5 प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचन किया जाना था; 3 सदस्यों को साधारण निर्वाचन-क्षेत्र से निर्वाचित किया जाना था, जिनमें से एक स्थान साधारण स्थान था, दूसरा, उद्घोषणा से उपाबद्ध द्वितीय अनुसूची में यथाप्रगणित अनुसूचित जाति का होना था और तीसरा सौंग; और संघ निर्वाचन-क्षेत्र को संघों के निर्वाचक-मण्डल द्वारा एक सदस्य निर्वाचित करना था। 6 स्थान चोग्याल द्वारा स्वविवेकानुसार किए गए नामनिर्देशन द्वारा भरे जाने थे।

91. तारीख 8 मई, 1973 को सिक्किम के चोग्याल, भारत सरकार के विदेश सचिव और सिक्किम के लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक दलों के नेताओं द्वारा एक त्रिपक्षीय करार किया गया, जिसके द्वारा यह तय पाया गया कि सिक्किम के लोगों को 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत को प्रभावी बनाने के लिए वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन का अधिकार प्राप्त होगा और सिक्किम में एक विधान सभा होगी और उक्त विधान सभा का हर चार वर्ष के पश्चात् निर्वाचन किया जाएगा तथा निर्वाचन निष्पक्ष और स्वतंत्र होंगे। तथा वे भारत के निर्वाचन आयुक्त के प्रतिनिधि के पर्यवेक्षण के अधीन संचालित किए जाएंगे, जो उस प्रयोजन के लिए सिक्किम सरकार द्वारा नियुक्त किया जाएगा। उक्त करार के पैरा (5) में यह उपबंध किया गया था:—

> "(5) निर्वाचनों की पद्धति इस प्रकार तैयार की जाएगी कि विधान सभा में जनसंख्या के विभिन्न वर्गों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो सके। विधान सभा और कार्यकारी परिषद् की साइज़ (आकार-प्रकार) और संरचना ऐसी होगी, जैसी कि समय-समय पर विहित की जाए, और इस संबंध में यह सुनिश्चित करने की सावधानी बरती जाएगी कि जनसंख्या का कोई एक विशेष वर्ग मुख्यतः अपने जातीय मूल के कारण (दूसरों पर) आधिपत्य जमाने की स्थिति में न रहे और सिक्किम के भूटिया-लेप्चा मूल के और नेपाली मूल के लोगों के, जिनमें सौंग और अनुसूचित जाति के लोग भी सम्मिलित हैं, अधिकारों और हितों को पूर्ण संरक्षण प्रदान किया जाता है।"

92. इस त्रिपक्षीय करार के पश्चात् सिक्किम के चोग्याल द्वारा तारीख 5 फरवरी, 1974 को उद्घोषणा जारी की गई। सिक्किम नागरिक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1974 के रूप में ज्ञात उक्त उद्घोषणा में यह उपबंध किया गया था कि सिक्किम की विधान सभा के लिए निर्वाचन के प्रयोजन के लिए सिक्किम को 31 प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों और एक संघ निर्वाचन-क्षेत्र में विभाजित किया जाएगा और संघ निर्वाचन-क्षेत्र में सिक्किम के चोग्याल द्वारा मान्य मठों के संघ होंगे। विधान सभा में 32 निर्वाचित सदस्य होने थे। 16 निर्वाचन क्षेत्र भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित रखे जाने थे, जिनमें से एक संघ के लिए आरक्षित था। शेष 16 निर्वाचन क्षेत्र सौंग और अनुसूचित जाति मूल के नेपाली

सिक्किमियों के लिए आरक्षित रखे जाने थे, जिनमें से एक निर्वाचन-क्षेत्र उद्घोषणा से उपाबद्ध अनुसूची में अधिसूचित अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों के लिए आरक्षित रखा जाना था। 31 प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर कराए जाने थे और संघ निर्वाचन क्षेत्र को संघों के निर्वाचक मण्डल के माध्यम से एक सदस्य का निर्वाचन करना था तथा संघों के लिए निर्वाचक मण्डल का सदस्य किसी अन्य निर्वाचन-क्षेत्र के लिए मत देने के लिए पात्र नहीं था।

93. अप्रैल, 1974 में सिक्किम विधान सभा के लिए सिक्किम नागरिक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1974 के अनुसार निर्वाचन कराए गए। इस प्रकार निर्वाचित सिक्किम विधान सभा ने सिक्किम शासन विधेयक, 1974 पारित किया और सिक्किम के चोग्याल की अनुमति मिलने के पश्चात् उक्त विधेयक को सिक्किम शासन अधिनियम, 1974 के रूप में अधिसूचित किया गया। जैसा कि उद्देशिका में कहा गया है, उक्त अधिनियम सिक्किम में पूर्णतः उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लक्ष्य को उत्तरोत्तर प्राप्त करने और भारत के साथ उसके संबंधों को सुदृढ़ करने के लिए अधिनियमित किया गया था। सिक्किम विधान सभा के लिए निर्वाचन से संबंधित उक्त अधिनियम की धारा 7 द्वारा तारीख 8 मई, 1973 के त्रिपक्षीय करार के पैरा (5) को मान्यता प्रदान की गई, जिसकी उपधारा (2) में यह उपबंध किया गया:—

> *"(2) सिक्किम की सरकार यह उपबंध करने के प्रयोजन के लिए नियम बना सकेगी कि विधान सभा में जनसंख्या के विभिन्न वर्गों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व रहेगा, अर्थात् लेप्चा या भूटिया मूल के सिक्किमी लोगों के और सौंग तथा अनुसूचित जातियों के लोगों सहित, नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों और अन्य सिक्किमी लोगों के विधिसम्मत अधिकारों और हितों को पूर्णतः संरक्षण प्रदान करते हुए, जनसंख्या के किसी एक विशेष वर्ग को मुख्यतः उसके जातीय मूल के कारण सिक्किम के मामलों में आधिपत्य की स्थिति अर्जित नहीं करने दी जाएगी।"

94. उक्त अधिनियम की धारा 30 में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सिक्किम के शीघ्र विकास के लिए भारत सरकार के साथ सहयोजना का उपबंध किया गया। उक्त अधिनियम की धारा 33 द्वारा यह घोषित किया गया कि विधान सभा, जो अप्रैल, 1974 में आयोजित निर्वाचनों के परिणामस्वरूप बनाई गई थी, उक्त अधिनियम के अधीन सम्यक् रूप से गठित प्रथम विधान सभा मानी जाएगी।

95. भारत-सिक्किम सहयोग और परस्पर सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के लिए सिक्किम के लोगों की इच्छा को प्रभावी बनाने के लिए संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा भारत के संविधान में संशोधन किया गया, जिसके परिणामस्वरूप अनुच्छेद 2-क अंतःस्थापित किया गया और उक्त संशोधन द्वारा संविधान में अंतःस्थापित दसवीं अनुसूची में उपवर्णित निबंधनों और शर्तों पर सिक्किम को संघ से सहयुक्त किया गया।

96. ऐसा प्रतीत होता है कि तारीख 10 अप्रैल, 1975 को सिक्किम विधान सभा ने सर्वसम्मति से एक संकल्प पारित किया, जिसमें, यह वर्णित करने के पश्चात् कि सिक्किम के चोग्याल के कार्यकलाप तारीख 8 मई, 1973 के त्रिपक्षीय करार के उद्देश्यों के विरुद्ध थे और चोग्याल के पद द्वारा न केवल सिक्किम के लोगों की इच्छाओं और आकांक्षाओं को पूरा नहीं किया जा रहा था बल्कि जनतांत्रिक विकास और भारत के राजनीतिक और आर्थिक जीवन में सहभागिता में बाधा डाली जा रही थी, यह घोषणा और संकल्प किया:—

> "चोग्याल का पद एतद्द्वारा उत्सादित किया जा रहा है और अब से सिक्किम भारत का संघटक एकक होगा, जिसे जनतांत्रिक और पूर्णतः उत्तरदायी सरकार प्राप्त होगी।"

इस संबंध में यह संकल्प भी किया गया:—

> "(1) भाग-क में अंतर्विष्ट संकल्प लोगों के अनुमोदन के लिए तुरन्त उनके समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा।
>
> (2) लोगों द्वारा भाग-क में अंतर्विष्ट संकल्प के अनुमोदित किए जाने के पश्चात् भारत सरकार से एतद्द्वारा ऐसे उपाय करने के लिए अनुरोध किया जाता है, जैसे इस संकल्प को यथाशीघ्र कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक और उचित हों।"

97. उक्त संकल्प के अनुसार, सिक्किम सरकार द्वारा तारीख 14 अप्रैल, 1975 को एक विशेष जनमत संग्रह आयोजित किया गया और लगभग 97000 (निर्वाचकों) के कुल निर्वाचक-मण्डल में से 59637 मत उक्त जनमत संग्रह में संकल्प के पक्ष में डाले गए और 1498 मत संकल्प के विरुद्ध डाले गए।

98. सिक्किम विधानसभा द्वारा सर्वसम्मति से अंगीकृत उक्त संकल्प को देखते हुए, जिसकी सिक्किम के लोगों द्वारा विशेष जनमत-संग्रह में पुष्टि की गई, संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा संविधान में और संशोधन किए गए, जिसके द्वारा सिक्किम को संघ में पूर्णतः राज्य के रूप में सम्मिलित किया गया और अनुच्छेद 371-च अंतःस्थापित किया गया, जिसके द्वारा सिक्किम राज्य की बाबत विशेष उपबंध किए गए। अनुच्छेद 371-च के खण्ड (ख) के आधार पर, अप्रैल, 1974 में सिक्किम में आयोजित निर्वाचनों के परिणामस्वरूप बनाई

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है:—

> "(2) The Government of Sikkim may make rules for the purpose of providing that the Assembly adequately represents the various sections of the population, that is to say, while fully protecting the legitimate rights and interests of Sikkimese of Lepcha or Bhutia origin and of Sikkimese of Nepali origin and other Sikkimese, including Tsongs & Scheduled Castes no single section of the population is allowed to acquire a dominating position in the affairs of Sikkim mainly by reason of its ethnic origin."

गई सिक्किम विधान सभा संविधान के अधीन सम्यक् रूप से गठित सिक्किम राज्य की विधान सभा मानी जानी थी और खण्ड (ग) के अधीन, पांच वर्ष की अवधि, जिसके लिए विधानसभा को कृत्य करना था, संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 के आरम्भ की तारीख को आरम्भ हुई मानी जानी थी अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) द्वारा संसद् को सिक्किम की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करने के प्रयोजन के लिए सिक्किम राज्य की विधानसभा में स्थानों के आरक्षण हेतु उपबंध करने के लिए सशक्त किया गया है।

99. तत्पश्चात् संसद् ने सिक्किम राज्य को 1950 वाले अधिनियम और 1951 वाले अधिनियम के विस्तार का उपबंध करने के लिए 1976 वाला अधिनियम अधिनियमित किया और 1950 वाले अधिनियम और 1951 वाले अधिनियम में, उनके सिक्किम को लागू किए जाने के विषय में, कुछ विशेष उपबंध जोड़े। सिक्किम विधानसभा को लागू होने वाले इन उपबंधों में से अनेक उपबंध प्रकृति में अस्थायी थे, जिसे भारतीय संविधान के अधीन सिक्किम राज्य की विधानसभा माना जाना था। वह एकमात्र उपबंध, जो सिक्किम के भावी विधान मण्डलों को लागू होता है, धारा 25-क में अंतर्विष्ट उपबंध है, जो इस प्रकार है:—

> "25-क. सिक्किम के संघ निर्वाचन-क्षेत्र में निर्वाचक के रूप में रजिस्ट्रीकरण की शर्तें — धारा 15 और 19 में किसी बात के होते हुए भी, सिक्किम राज्य में संघ निर्वाचन क्षेत्र के लिए, मठों के केवल वे संघ निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत होने के हकदार होंगे, जिन्हें सिक्किम की सभा बनाने के लिए अप्रैल, 1974 में सिक्किम में किए गए (कराए गए) निर्वाचनों के प्रयोजन के लिए मान्यता दी गई और उक्त निर्वाचक नामावली को, धारा 21 से 25 की धाराओं के उपबंधों के अधीन रहते हुए, ऐसी रीति से तैयार किया जाएगा या पुनरीक्षित किया जाएगा, जो सिक्किम सरकार के परामर्श से निर्वाचक आयोग द्वारा निदिष्ट की जाए।"

100. भारत के संविधान के अनुच्छेद 342 के खण्ड (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, भारत के राष्ट्रपति ने तारीख 22 जून, 1978 को संविधान (सिक्किम) अनुसूचित जनजातियां आदेश, 1978 (सी०ओ० II) प्रख्यापित किया, जिसमें यह विहित किया गया कि भूटिया और लेप्चा लोगों को सिक्किम राज्य के संबंध में अनुसूचित जनजातियां माना जाएगा।

101. चूंकि 1976 वाले अधिनियम में सिक्किम की विधानसभा के लिये नए सिरे से निर्वाचनों का उपबंध नहीं किया गया था और उक्त विधान सभा की अवधि समाप्त होने वाली थी, अतः 1950 वाले अधिनियम और 1951 वाले अधिनियम में संशोधन करने के लिये तारीख 18 मई, 1979 को संसद में लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1979 पुरःस्थापित (प्रस्तुत) किया गया। जब संसद के समक्ष उक्त विधेयक लंबित था, तभी लोक सभा का विघटन कर दिया गया और उक्त विधेयक व्यपगत हो गया।

102. तत्पश्चात् सिक्किम की विधान सभा का भी तारीख 13 अगस्त, 1979 को विघटन कर दिया गया और विधान सभा के लिये नये सिरे से निर्वाचन कराए जाने थे। अतः राष्ट्रपति द्वारा तारीख 11 सितम्बर, 1979 को लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अध्यादेश, 1979 (1979 का अध्यादेश सं० 7) प्रख्यापित किया गया, जिसके द्वारा 1950 वाले अधिनियम और 1951 वाले अधिनियम में कुछ संशोधन किये गये। उक्त अध्यादेश द्वारा किये गए संशोधनों के आधार पर सिक्किम विधान सभा के लिये अक्तूबर, 1979 में निर्वाचन कराए गये। तत्पश्चात् अध्यादेश का स्थान लेने के लिये 1980 वाला अधिनियम अधिनियमित किया गया। 1980 वाले अधिनियम द्वारा 1950 वाले अधिनियम की धारा 7 में उपधारा (1-क) अंतःस्थापित की गई है, जो इस प्रकार है:—

> (1-क) उपधारा (1) में किसी बात के होते हुए भी, सिक्किम राज्य की विधान सभा में जो लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 के प्रारम्भ के पश्चात् किसी समय गठित की जानी है उन स्थानों की कुल संख्या जो सभा निर्वाचन-क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गये व्यक्तियों द्वारा भरे जाएंगे, बत्तीस होगी जिसमें से—
>
> (क) बारह स्थान भूटिया लेप्चा उद्भव के सिक्किमियों के लिये आरक्षित होंगे;
>
> (ख) दो स्थान उस राज्य की अनुसूचित जातियों के लिये आरक्षित होंगे; और
>
> (ग) एक स्थान धारा 25क में निर्दिष्ट संघों के लिये आरक्षित होगा।
>
> स्पष्टीकरण—इस उपधारा में "भूटिया" के अंतर्गत चुम्बिया, डोप्थापा, दुकपा, कंगाते, शेरपा, तिब्बती, ट्रोमोपा और योल्मो भी हैं।

103. इसी प्रकार 1951 वाले अधिनियम की धारा 5-क में निम्नलिखित उपबंध अंतःस्थापित किया गया:—

> "(2) धारा 5 में किसी बात के होते हुए भी, सिक्किम राज्य की विधान सभा में, जो लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1980 के प्रारम्भ के पश्चात् किसी भी समय गठित की जानी है, स्थान को भरने के लिये चुने जाने के लिये कोई व्यक्ति तब तक अर्हित नहीं होगा जब तक कि वह—
>
> (क) भूटिया-लेप्चा उद्भव के सिक्किमियों के लिये आरक्षित स्थान की दशा में, या तो भूटिया या लेप्चा उद्भव का व्यक्ति न हो और राज्य में किसी ऐसी सभा निर्वाचन-क्षेत्र के लिये, जो संघों के लिये आरक्षित निर्वाचन-क्षेत्र से भिन्न है, निर्वाचक न हो;
>
> (ख) अनुसूचित जातियों के लिये आरक्षित स्थान की दशा में, सिक्किम राज्य में उन जातियों में से किसी का सदस्य न हो और राज्य में किसी सभा निर्वाचन-क्षेत्र के लिये निर्वाचक न हो;
>
> (ग) संघों के लिये आरक्षित स्थान की दशा में, संघ निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक न हो;

(घ) किसी अन्य स्थान की दशा में, राज्य में के किसी सभा निर्वाचन के लिये निर्वाचक न हो।"

104. इन मामलों में याची नेपाली मूल के सिक्किमी हैं और उन्होंने 1976 वाले अधिनियम द्वारा यथा पुरःस्थापित, 1980 वाले अधिनियम में जोड़ी गई धारा 25-क और 1950 वाले अधिनियम की धारा 7 की उपधारा (1-क) और 1951 वाले अधिनियम की धारा 5-क की उपधारा (2) की विधिमान्यता को चुनौती दी है, जो 1980 वाले अधिनियम द्वारा जोड़ी गई थीं, जहां तक उनका संबंध निम्नलिखित से है:—

(1) भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिये सिक्किम विधान सभा में 32 स्थानों में 12 स्थानों का आरक्षण; और

(2) संघों के लिये एक स्थान का आरक्षण।

105. याचियों ने संविधान, 1950 (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी है; जिसके द्वारा संविधान में अनुच्छेद 371-च अंतःस्थापित किया गया।

106. 1982 के अंतरित मामला सं० 78 और 1984 में, याचियों का यह पक्षकथन है कि अनुच्छेद 371-च का ऐसी रीति में अर्थान्वयन किया जाना चाहिये, जिससे वह संविधान के साधारण दर्शन, विशेष रूप से जनतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के दर्शन से संगत हो, और उन्होंने 1976 वाले अधिनियम और 1980 वाले अधिनियम के उपबंधों को चुनौती दी है, जिनमें भूटिया और लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिये सिक्किम विधान सभा में 12 स्थानों के आरक्षण और संघों के लिये एक स्थान के आरक्षण का उपबंध किया गया है। यह चुनौती इस आधार पर दी गई है कि उक्त उपबंध अनुच्छेद 371-च की परिधि से परे हैं और उनसे संविधान के अनुच्छेद 332, 14 और 15 तथा 325 के उपबंधों का उल्लंघन होता है। आनुकल्पिक रूप से याचियों का यह पक्षकथन है कि यदि अनुच्छेद 371-च का व्यापक अर्थान्वयन किया जाता है, तो वह संविधान के आधारभूत लक्षणों का उल्लंघन करने के कारण असंवैधानिक होगा। 1991 के अंतरित मामला सं० 93 और 94 में याचियों ने भिन्न आधार लिया है। भूटिया और लेप्चा मूल के सिक्किम के लोगों और संघों के लिए स्थानों के आरक्षण को चुनौती देने के बजाय, उन्होंने नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिये विधान सभा में स्थानों के वैसे ही आरक्षण का दावा करने के लिये अनुच्छेद 371-च के खंड (च) का अवलंब लिया है।

107. इन मामलों में याचियों की ओर से विद्वान काउंसेल द्वारा दी गई दलीलों पर विचार करने से पूर्व, सिक्किम राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान काउंसेल श्री आर० के० पाराशरन और भारत संघ की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान, महा न्यायवादी के इस आशय के निवेदन पर विचार करना आवश्यक है कि (चूंकि) विवादाधीन विषय प्रकृति में राजनीतिक हैं, अतः वे न्याय्य नहीं हैं। यह तर्क दिया गया है कि भारत संघ के राज्य के रूप में सिक्किम का प्रवेश (विलय) अंतरराष्ट्रीय विधि में समर्पण द्वारा राज्य-क्षेत्र का अर्जन गठित करता है और अनुच्छेद 371-च में यथा-अंतर्विष्ट वे निबंधन और शर्तें, जिन पर उक्त समर्पण किया गया, तारीख 3 मई, 1973 के त्रिपक्षीय करार को प्रभावी बनाने के लिये आशयित हैं, जो करार प्रकृति में राजनीतिक था। यह तर्क भी दिया गया है कि संविधान के अनुच्छेद 2 के अधीन संसद विधि द्वारा ऐसे निबंधनों और शर्तों पर भारत संघ में, नये राज्य का प्रवेश (सम्मिलित करने) और नये राज्य स्थापित करने के लिये सशक्त है, जो वह ठीक समझे, और उन निबंधनों और शर्तों को विहित करते हुए, जिन पर सिक्किम राज्य भारत संघ में सम्मिलित किया गया, अनुच्छेद 371-च संविधान के अनुच्छेद 2 के अधीन विधि है और केवल इस कारण कि वह संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम द्वारा संविधान में जोड़ा गया, जो पर्याप्त सावधानी के साथ संविधान के अनुच्छेद 368 के अधीन अधिनियमित किया गया, इस तर्क (बात) का कोई महत्व नहीं है और इससे विधि का सही स्वरूप परिवर्तित नहीं होता है। यह निवेदन भी किया गया है कि (चूंकि) वे निबंधन और शर्तें जिन पर सिक्किम को भारत संघ में सम्मिलित किया गया, प्रकृति में राजनीतिक हैं, उक्त निबंधनों और शर्तों को न्यायालय के समक्ष चुनौती की विषय-वस्तु नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि यह विधि सुस्थापित है कि न्यायालय ऐसे प्रश्नों का न्यायनिर्णयन नहीं करते हैं, जो प्रकृति में राजनीतिक हैं।

108. कुछ क्षेत्रों में न्यायिक पुनर्विलोकन को अस्वीकृत करने के लिये संयुक्त राज्य अमरीका में राजनीतिक प्रश्न का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। उक्त सिद्धांत को **बेकर** बनाम **कार**[1] वाले मामले में आघात पहुंचा, जिसमें न्या० ब्रेनान ने इस दलील को अस्वीकार करते हुए कि विधायी प्रभाजन को चुनौती में अ-न्याय्य राजनीतिक प्रश्न उठाया गया है, यह मत व्यक्त किया है:—

> ".....राजनीतिक प्रश्न की अ-न्याय्यता मुख्यतः शक्तियों के पृथक्करण का कृत्य है। मामला प्रति मामला जांच की आवश्यकता के आच्छादित करने की "राजनीतिक प्रश्न" के लेबल की क्षमता से काफी भ्रम पैदा होता है। यह विनिश्चय करना कि क्या कोई मामला संविधान द्वारा सरकार की किसी अन्य शाखा को किस रूप में सुपुर्द किया गया है या क्या उस शाखा की कार्यवाही सुपुर्दगी के प्राधिकार के (परिमाण के) आधिक्य में है, सांविधानिक निर्वचन का कठिन कार्य है और यह उत्तरदायित्व संविधान के अंतिम निर्वचनकर्ता के रूप में इस न्यायालय का है।" (पृष्ठ 210-212)

* * * * *

> "..... तथापि यह धारणा करना गलत है कि ऐसा प्रत्येक मामला या संविवाद, जिसका संबंध अंतरराष्ट्रीय (विदेशी) संबंधों से है, न्यायिक संज्ञान से परे है। इस क्षेत्र में, हमारे मामलों से अनिवार्यतः यह दर्शित होता है कि उठाए

[1](1962) 369 यू० एस० 186.

1993(2) eILR(PAT) SC 143

गए विशेष प्रश्न को; राजनीतिक शाखाओं द्वारा उसके प्रबंधन के इतिहास, किसी विशेष मामले में उसकी प्रकृति और संस्थिति के प्रकाश में न्यायिक हस्तन (कार्यवाही) के लिये सुग्राहिता और न्यायिक कार्यवाही के संभावित परिणामों के अनुसार विभेदकारी विश्लेषण किया गया है।" (पृष्ठ 211-12)

* * *

"....राजनीतिक प्रश्न अंतर्वलित करने वाले मामले के रूप में माने गए किसी मामले के धरातल पर समकक्ष राजनीतिक विभाग को विवाद्यक की पाठगत रूप से प्रदर्शनीय सांविधानिक सुपुर्दगी या उसका समाधान करने के लिये न्यायिक रूप से ज्ञेय और प्रबंधनीय मानकों का अभाव; या स्पष्टतः अ-न्यायिक विवेकाधिकार के लिये किसी प्रकार के आरम्भिक नीति निर्धारण के बिना, विनिश्चय करने की असंभवता या न्यायालय की सरकार की समकक्ष शाखाओं के प्रति यथार्ह सम्मान का अभाव व्यक्त किये बिना, स्वतंत्र संकल्प करने की असंभवता; या पहले ही कर लिये गये राजनीतिक विनिश्चय का असंदिग्ध रूप में पालन किये जाने के असाधारण आवश्यकता; या एक प्रश्न पर विभिन्न विभागों द्वारा अनेक (विविध) निर्णयों से परेशानी की संभावना—ये सभी बातें सामने आती हैं। जब तक इन प्रतिपादनाओं में से एक प्रतिपादना भी न्यायालय के समक्ष वाले मामले से अ-वियोज्य नहीं है, तब तक राजनीतिक प्रश्न के होने के आधार पर अ-न्याय्यता के कारण मामले (प्रश्न) को खारिज नहीं किया जाना चाहिये। (पृष्ठ 217)

109. **पावेल** बनाम **मेक कोरमैक**[1] वाले मामले में मु०न्या० ने, **बेकर** बनाम **कार**[2] वाले मामले में न्या० ब्रेनान की मताभिव्यक्ति पर बल देने के पश्चात् यह कहाः—

"यह अवधारित करने के लिये कि सरकार के किसी विभाग को पाठगत सुपुर्दगी हुई है या नहीं, हमें संविधान का निर्वचन करना चाहिये। दूसरे शब्दों में, हमें सर्वप्रथम यह अवधारित करना चाहिए कि संविधान, अनुच्छेद 1, 5 द्वारा, सदन को क्या शक्ति प्रदत्त करता है और उसके पश्चात् ही हम यह अवधारित कर सकते हैं किस सीमा तक, यदि कोई हो, उक्त शक्ति का प्रयोग न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है।

* * * *

यदि अनुच्छेद 5 की परीक्षा से यह प्रकट होता है कि संविधान द्वारा सदस्यता हेतु अर्हताएं विहित करने और यह निर्णय करने (देखने) की न्यायिक रूप से अपुनर्विलोकनीय शक्ति सदन को प्रदत्त की गई है कि क्या संभावित भावी सदस्य उन अर्हताओं को पूरा करते हैं, तो सदन के अवधारण का आगे पुनर्विलोकन राजनीतिक प्रश्न के सिद्धांत द्वारा वर्जित हो सकता है। दूसरी ओर, यदि संविधान द्वारा सदन को केवल यह निर्णय करने की शक्ति प्रदत्त की जाती है कि (क्या) निर्वाचित सदस्यों के पास संविधान में उपवर्णित तीनों स्थायी अर्हताएं हैं या नहीं, तो यह अवधारित करने के लिये आगे विचार करना आवश्यक होगा कि क्या राजनीतिक प्रश्न के सिद्धांत की अन्य प्रतिपादनाओं में से कोई प्रतिपादना न्यायालय के समक्ष वाले मामले से अवियोज्य है।" (पृष्ठ 516)

110. **ए० के० राय** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में मु० न्या० चन्द्रचूड़ ने संयुक्त राज्य अमरीका में यथा लागू सिद्धांत को इस प्रकार स्पष्ट किया हैः—

"संयुक्त राज्य अमरीका में राजनीतिक प्रश्न का सिद्धांत उसके संविधान के आधार पर प्रतिपादित किया गया, जिसमें हमारे संविधान के विपरीत, शक्तियों के कठोर पृथक्करण की पद्धति अंगीकृत की गई है। वस्तुतः, यह तथ्य उन प्रधान कारणों में से एक है, जिनके आधार पर संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने सलाह के रूप में अपनी राय देने से इनकार कर दिया था। बेकर **बनाम** कार [1962 (368) यू० एस० 186] वाले मामले में न्या० ब्रेनान ने यह कहा कि राजनीतिक प्रश्न का सिद्धांत अनिवार्यतः शक्तियों के पृथक्करण का कृत्य था। एक ओर अमरीकी राष्ट्रपति और दूसरी ओर भारत के राष्ट्रपति की स्थिति और शक्तियों में बहुत अधिक अंतर भी है। संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति अपने अधिकार से कार्यपालक शक्ति का प्रयोग करता है और वह कांग्रेस के प्रति नहीं, बल्कि उन लोगों के प्रति उत्तरदायी होता है, जो उसका निर्वाचन करते हैं। भारत में संघ की कार्यपालिक शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित है किंतु वह अपनी मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से उसका प्रयोग करने के लिए बाध्य है। अतः राष्ट्रपति का समाधान उनकी मंत्रिपरिषद् का ही, जिस मंत्रिपरिषद् में वास्तविक कार्यपालिक शक्ति निहित है, समाधान है, कुछ और नहीं। यहां यह उल्लेख करना भी आवश्यक होगा कि स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका में राजनीतिक प्रश्न का सिद्धांत विवाद का विषय रहा है और वह प्रतिकूल आलोचना की विषय-वस्तु भी रहा है। यह कहा गया है कि वस्तुतः इस सिद्धांत से यही अभिप्रेत है कि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग में न्यायालयों को विवेकपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जो यह अपेक्षा करता है कि उन्हें ऐसे किसी विवाद्यक के गुणागुण का विचार का विनिश्चय करने में अत्यंत सावधानी बरतनी चाहिए, जिसमें विवाद्यक से संबंधित सिद्धांत के दावों और न्यायालयों की शक्ति तथा सम्मान से संबंधित समीचीनता के दावों के बीच तीव्र विरोध

---

[1] (1969) 395 यू० एस० 486.

[2] (1962) 369 यू० एस० 186.

[1] [1982] 2 एस० सी० आर० 272=ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 710.

है न्यूनाधिक (कमोवेश) रूप में परिणाम यह है कि अमरीका में राजनीतिक प्रश्न शब्द-जाल बन कर रह गया है।"

(एस०सी०आर० का पृष्ठ 296-297 : ए० आई० आर० का पृ० 724)

111. **माधव राव** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में यह दलील दी गई कि शासक के रूप में किसी व्यक्ति को मान्यता देने या मान्यता वापस लेने के विषय में राष्ट्रपति राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करते हैं, जो प्रभुतासम्पन्न शक्ति है और वे सुसंगत प्रसुविधाएं जिनके अधीन शासकों के अधिकारों को मान्यता प्रदान की गई 'राजनीतिक करार' थीं। उक्त दलील को अस्वीकार करते हुए, न्या० शाह ने (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे), बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए, यह मत व्यक्त किया:—

"राज्य के कृत्यों को विधायी, न्यायिक और कार्यपालिक कृत्यों के रूप में वर्गीकृत किया गया है : कार्यपालिक कृत्य अवशिष्ट है, जो अन्य दो कृत्यों के अंतर्गत नहीं आता है। किसी जनतांत्रिक नीति में सांविधानिक तंत्र ऐसे किसी कृत्य के अस्तित्व को अनुध्यात नहीं करता है, जिसे नागरिकों के संदर्भ में राजनीतिक कृत्य का नाम दिया जा सके, और जिसके प्रयोग में किए गए आदेश विधिपूर्ण रूप से गठित न्यायालयों के समक्ष, उनकी विधिमान्यता के लिए, परखे नहीं जा सकते हैं।"

(एस० सी० आर० का पृष्ठ 75 : ए० आई० आर० का पृष्ठ 565)

इसी प्रकार न्या० हेगड़े ने यह कहा—

"कार्यपालिका और नागरिकों के बीच संबंध के विषय में, हमारे संविधान के अधीन राजनीतिक शक्ति जैसी कोई चीज नहीं है। हमारे संविधान में केवल तीन शक्तियों, अर्थात् विधायी शक्ति, न्यायिक शक्ति और कार्यपालिक शक्ति, को मान्यता प्रदान की गई है।"

(एस० सी० आर० का पृष्ठ 169 : ए० आई० आर० का पृष्ठ 619-20)

112. **राजस्थान राज्य** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में न्या० भगवती ने (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) यह मत व्यक्त किया है:—

"अतः यह स्पष्ट है कि केवल इस कारण कि किसी प्रश्न में राजनीतिक पुट है, न्यायालय निराशा में अपने हाथ बांध कर नहीं बैठे रह सकते हैं और यह घोषित नहीं कर सकते हैं कि हमें इस विषय से स्वयं को दूर रखना है। जब तक यह प्रश्न उद्भूत होता है कि क्या संविधान के अधीन प्राधिकारी ने अपनी शक्ति की सीमाओं के अंतर्गत कार्य किया है या उसके आधिक्य में कार्य किया है, तब तक न्यायालय द्वारा उसका निश्चित रूप से विनिश्चय किया जा सकता है। वस्तुतः ऐसा करना उसकी सांविधानिक बाध्यता होगी।"

(एस० सी० आर० का पृष्ठ 80 : ए० आई० आर० का पृष्ठ 1413)

113. इन मताभिव्यक्तियों का अवलंब लेते हुए और **बेकर** बनाम **कार**[1] तथा **रावेल** बनाम **मैककौरमैक**[2] वाले मामलों में किए गए विनिश्चयों की अवेक्षा करने के पश्चात्, न्या० वेंकटरमैया ने (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) **एस०पी० गुप्त** बनाम **भारत संघ**[3] वाले मामले में यह अधिकथित किया है :—

"हमारे देश में भी, जो लिखित संविधान द्वारा शासित होता है, ऐसे अनेक प्रश्नों का जो शुद्धतः राजनीतिक पुट वाले प्रतीत होते हैं, न्यायिक प्रश्नों की प्रकृति को धारित करना अनिवार्य सा ही है। ऊपरनिर्दिष्ट राजस्थान राज्य **बनाम** भारत संघ (ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1361) वाले मामले में, सरकार का यह दावा कि (चूंकि) संविधान के अनुच्छेद 356 (1) के अधीन राष्ट्रपति के विनिश्चय की, जो प्रकृति में राजनीतिक था, विधिमान्यता उस एकमात्र आधार पर न्याय्य नहीं थी, इस न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दिया गया।"

(एस० सी० आर० का पृष्ठ 1248 : ए० आई० आर० का पृष्ठ 573)

114. **श्रीमती सरोजिनी राम स्वामी** बनाम **भारत संघ**[4] वाले मामले में, बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए, न्या० वर्मा ने भी इस मत को दोहराया है।

115. सिक्किम को, सिक्किम के चोग्याल और भारत सरकार के बीच किसी संधि या करार के आधार पर भारत संघ में सम्मिलित नहीं किया गया था। उसे उस सर्वसम्मत संकल्प के अनुसरण में इस प्रकार सम्मिलित किया गया था, जो तारीख 14 अप्रैल, 1975 को आयोजित विशेष जनमत संग्रह में सिक्किम के लोगों के बहुमत द्वारा उक्त संकल्प के अनुमोदित किए जाने के पश्चात्, तारीख 10 अप्रैल, 1975 को सिक्किम की विधानसभा द्वारा पारित किया गया था। उक्त संकल्प में ऐसे कोई निबंधन और शर्तें अंतर्विष्ट नहीं हैं, जिन पर सिक्किम के लोग भारत में सम्मिलित होना चाहते हैं, सिवाय इस वर्णन के कि अब से सिक्किम भारत का एक संघटक एकक होगा, जिसे जनतांत्रिक और पूर्णतः उत्तरदायी सरकार प्राप्त होगी। तारीख 8 मई, 1973 का त्रिपक्षीय करार भी ऐसा करार नहीं था, जिसमें सिक्किम के भारत संघ में सम्मिलित किए जाने के लिए कोई निबंधन और शर्तें अंतर्विष्ट थीं। उसमें अधिक जनतांत्रिक संविधान सहित, सिक्किम में पूर्णतः उत्तरदायी सरकार की स्थापना हेतु तंत्र (ढांचा) अंतर्विष्ट है। यह करार सिक्किम शासन अधिनियम, 1974 को अधिनियमित करके कार्यान्वित किया गया। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 371-च में इस अर्थ में राजनीतिक पुट मौजूद है कि उसके द्वारा सिक्किम के भारत संघ

[1] [1971] 3 एस० सी० आर० 9=ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 530.

[2] [1978] 1 एस० सी० आर० 1=ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1361.

[1] [1962] 369 एस० सी० 186.

[2] (1969) 395 यू० एस० 486.

[3] [1982] 2 एस० सी० आर० 365=ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 149.

[4] रिट याचिका (सिविल) सं० 514/1992, जिसका विनिश्चय तारीख 27 अगस्त, 1992 को किया गया=ए० आई० आर० 1992 एस० सी० डब्ल्यू० 2683.

1993(2) eILR(PAT) SC 143

में सम्मिलित किए जाने से संबंधित राजनीतिक करार को प्रभावी बनाया जाना ईप्सित है।

116. तथापि यह तर्क दिया गया है कि ऐसे निबंधनों और शर्तों को अंतर्विष्ट करते हुए, जिन निबंधनों और शर्तों पर किसी नए राज्य को भारत संघ में सम्मिलित किया जाता है, अनुच्छेद 2 के अधीन बनाई गई विधि, स्वःप्रकृत्या, राजनीतिक है, जिसमें नीति के विषय अंतर्वलित होते हैं और इसलिए ऐसी विधि में अंतर्विष्ट निबंधन और शर्तें न्याय्य नहीं हैं। इस संदर्भ में, अनुच्छेद 2 में "ऐसे निबंधनों और शर्तों पर, जो वह ठीक समझे" शब्दों पर बल दिया गया है और यह दलील दी गई है कि संसद् को किसी नए राज्य के भारत संघ में सम्मिलित किए जाने के लिए निबंधनों और शर्तों को अधिकथित करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है और ऐसे निबंधन और शर्तें न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि से बाह्य हैं। मैं इस प्रतिपादना को स्वीकार करना कठिन समझता हूं। निस्संदेह यह सच है कि किसी नए राज्य के भारत संघ में प्रवेश (सम्मिलित किए जाने) के विषय में अनुच्छेद 2 द्वारा संसद् को ऐसे निबंधन और शर्तें विहित करने के लिए काफी स्वतंत्रता प्रदत्त की गई है जिन पर किसी नए राज्य को भारत संघ में प्रवेश दिया (सम्मिलित किया) जा रहा है। किंतु इसके साथ ही, यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त स्वतंत्रता किसी सांविधानिक सीमा के बिना है। मेरे मतानुसार, अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् को प्रदत्त शक्ति समग्र सांविधानिक स्कीम द्वारा सीमित की गई है और संसद्, उन निबंधनों और शर्तों को विहित करते समय, जिन पर किसी नए राज्य को भारत संघ में प्रवेश दिया (सम्मिलित किया) जाता है, उक्त स्कीम के अंतर्गत कार्य करना है। संसद् ऐसे निबंधनों और शर्तों पर किसी नए राज्य को भारत संघ में प्रवेश नहीं दे (सम्मिलित नहीं कर) सकती है, जो संविधान के आधारभूत लक्षणों के अल्पीकरण में हैं। वह ऐसी विधि नहीं बना सकती है, जिसके द्वारा उक्त राज्य को "राजतंत्र" के रूप में बने रहने के लिए अनुज्ञात किया जाता है, क्योंकि ऐसा करना संविधान के अधीन स्थापित सरकार के जनतांत्रिक रूप के अल्पीकरण में होगा। इसी प्रकार संसद् के लिए यह विहित करना अनुज्ञेय नहीं होगा कि नया राज्य प्रशासन का निरंकुश स्वरूप बनाए रखेगा, जब संविधान में सभी राज्यों में सरकार के जनतांत्रिक रूप को परिकल्पित किया गया है। इसी प्रकार संसद् के लिए यह उपबंध करने का भी अधिकार नहीं होगा कि नया राज्य, दूसरे राज्यों में विद्यमान धर्म-निरपेक्ष तंत्र की उपेक्षा करते हुए, धार्मिक राज्य बना रहेगा। इससे अन्यथा अभिनिर्धारित करने का अर्थ यह होगा कि संसद् के लिए ऐसे निबंधनों और शर्तों पर नए राज्यों को संघ में प्रवेश देना (सम्मिलित करना) अनुज्ञेय होगा, जिनके द्वारा उन राज्यों का ऐसी पद्धतियों के अधीन शासन सम्भव बनाया जाएगा, जो संविधान की स्कीम से असंगत हैं, और तद्द्वारा उसके लिए संविधान के आधारभूत लक्षणों में परिवर्तन करना अनुज्ञेय होगा। इससे यह विषम परिणाम निकलेगा कि अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् द्वारा अधिनियमित किसी सामान्य विधि द्वारा ऐसा परिवर्तन लाना सम्भव हो जाएगा, जो संविधान में संशोधन करने के लिए, अर्थात् संविधान के किसी आधारभूत लक्षण में परिवर्तन करने के लिए सांविधानिक शक्ति के प्रयोग द्वारा भी नहीं किया जा सकता है। अतः संविधान के अनुच्छेद 2 में "जो वह ठीक समझे" शब्दों का इस प्रकार अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता है कि उनके द्वारा संसद् को नए राज्य के प्रवेश (सम्मिलित किए जाने) के लिए निबंधनों और शर्तों का उपबंध करने के लिए सशक्त किया गया है, जो संविधान के आधारभूत लक्षणों से असंगत हैं। उक्त शब्दों का केवल यही अर्थ हो सकता है कि संविधान के ढांचे के अंतर्गत संसद् के लिए ऐसे निबंधन और शर्तें विहित करना अनुज्ञेय है, जिन पर संघ में किसी नए राज्य को प्रवेश दिया (सम्मिलित किया) जाता है।

117. संविधान के अनुच्छेद 2 और 3 के अधीन संसद् को प्रदत्त शक्ति के संबंध में, इस न्यायालय ने **मंगल सिंह** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में यह अभिकथित किया है:—

> ".....वह शक्ति, जो अनुच्छेद 2 और 3 द्वारा संसद् में निहित की गई है, नए राज्यों का प्रवेश, स्थापना या निर्माण करने की शक्ति है, जो संविधान द्वारा परिकल्पित जनतांत्रिक प्रतिमान के अनुरूप हैं; और वह शक्ति, जिसका संसद् विधि द्वारा प्रयोग कर सकेगी, संविधान द्वारा यथा-अनुध्यात राज्य के प्रवेश, स्थापना या निर्माण की पूरक, आनुषंगिक या पारिणामिक शक्ति है, और वह सांविधानिक स्कीम पर अध्यारोही प्रभाव रखने की शक्ति नहीं है।
>
> (एस० सी० आर० का पृष्ठ 112 : ए० आई० आर० का पृष्ठ 946)

118. इस संदर्भ में यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि संविधान का अनुच्छेद 2 कॉमन वैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया कान्स्टीट्यूशन ऐक्ट (आस्ट्रेलियाई राष्ट्रकुल संविधान अधिनियम) की धारा 121 के प्रतिमान पर तैयार किया गया है, जिसमें यह उपबंध किया गया है:—

> *"धारा 121 — संसद् राष्ट्रकुल में नए राज्यों का प्रवेश या स्थापना कर सकेगी, और ऐसे प्रवेश या स्थापना पर ऐसे निबंधन और शर्तें अधिरोपित कर सकेगी, जिन्हें वह ठीक समझे और जिनमें संसद् के किसी भी सदन में प्रतिनिधित्व की सीमा भी सम्मिलित होगी।"

इस उपबंध का अभी तक उपयोग नहीं किया गया है और न्यायालयों को इस उपबंध का अर्थान्वयन करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। तथापि आस्ट्रेलियाई संविधान के एक विद्वान् समीक्षक ने यह मत व्यक्त किया है कि धारा 121 के अधीन ऐसे कोई निबंधन और शर्तें अधिरोपित नहीं की जा सकती थीं, जो संविधान के उपबंधों से असंगत हैं, अर्थात् नए राज्य को संविधान का न्याय अध्याय लागू करने से निवारित करने के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता था।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है:

"S.121 The Parliament may admit to the Commonwealth or establish new States, and may upon such admission or establishment make or impose such terms and conditions, including the extent of representation in either House of Parliament, as it thinks fit."

[1] [1967] 2 एस० सी० आर० 109=ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 944.

[आर० डी० लम्ब : कान्स्टीट्यूशन ऑफ दि कॉमन वैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया (1986) (चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 736)]

119. अतः मेरा यह मत है कि संघ में नए राज्य को प्रवेश देते (सम्मिलित) करते समय, संसद् अनुच्छेद 2 के अधीन विधि बनाते समय, ऐसे निबंधन और शर्तों का उपबंध नहीं कर सकती है, जो संविधान की स्कीम से असंगत हैं और न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करने का अधिकार प्राप्त है कि अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् द्वारा अधिनियमित विधि में यथा-उपबंधित निबंधन और शर्तें सांविधानिक स्कीम से असंगत है या नहीं। इसका अर्थ यह होगा कि अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् को प्रदत्त शक्ति, परिधि में, अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधनकारी शक्ति से अधिक व्यापक नहीं है और अनुच्छेद 371-च को संविधान के अनुच्छेद 2 के अधीन बनाई गई या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन के रूप में जोड़ी गई विधि के रूप में मानना व्यवहारिक रूप से महत्वपूर्ण नहीं होगा। (दोनों में से) किसी भी दशा में, वह इस परिसीमा के अधीन होगा कि वह संविधान के किसी आधारभूत लक्षण को परिवर्तित नहीं कर सकती है। अतः अनुच्छेद 371-च द्वारा प्रदत्त शक्ति की परिधि न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है। इसी प्रकार वह विधि भी न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है, जो अनुच्छेद 371-च में अंतर्विष्ट उपबंधों को प्रभावी बनाने के लिए अधिनियमित की जाती है। अतः श्री पाराशरन् और विद्वान महान्यायवादी द्वारा दी गई यह दलील स्वीकार नहीं की जा सकती है कि ऐसी परीक्षा न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि से बाह्य है।

120. श्री पाराशरन् और विद्वान महान्यायवादी ने "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" पद के प्रयोग पर बल दिया है, जो अनुच्छेद 371-च के खण्ड (क) से (त) से पहले आया है। यह निवेदन किया गया है कि अनुच्छेद 371-च में उक्त अध्यारोही खण्ड के परिणामस्वरूप, संसद के लिए, अनुच्छेद 371-च के खण्ड (क) से (त) को प्रभावी बनाते हुए, संविधान के अन्य उपबंधों के अल्पीकरण में विधि अधिनियमित करना अनुज्ञेय है, और उक्त विधि को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि उससे संविधान के किसी अन्य उपबंध का उल्लंघन होता है। इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि किसी कानून में अध्यारोही खण्ड, कानून में अन्य उपबंधों पर जिन्हें वह लागू होता है, अध्यारोही खण्ड के अंतर्गत आने वाले उपबंधों को अध्यारोही प्रभाव प्रदान करता है, और इस अर्थ में अनुच्छेद 371-च में प्रयुक्त अध्यारोही खण्ड अनुच्छेद 371-च के खण्ड (क) से (त) को अध्यारोही प्रभाव प्रदान करेगा। किंतु इसके साथ ही इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि अनुच्छेद 371-च में अध्यारोही खण्ड की परिधि अनुच्छेद 2 के अधीन संसद् की विधायी शक्ति की परिधि से परे नहीं जा सकती है। जैसा कि पहले ही उपदर्शित किया जा चुका है, अनुच्छेद 2 के अधीन विधायी शक्ति द्वारा संसद् को ऐसे निबंधनों और शर्तों का उपबंध करने वाली विधि बनाने के लिए समर्थ नहीं बनाया गया है, जो सांविधानिक स्कीम से असंगत हैं, और उस अर्थ में, उक्त शक्ति अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधनकारी शक्ति से अधिक भिन्न नहीं है, जो संविधान के किसी आधारभूत लक्षण को परिवर्तित करने की सीमा तक नहीं जाती है। अतः अनुच्छेद 371-च में अध्यारोही खण्ड का इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना है कि वह पूर्वोक्त परिसीमाओं के अनुरूप हो, अन्यथा अनुच्छेद 371-च असंवैधानिक हो जाएगा। ऐसे अर्थान्वयन से बचा जाना है, जिससे ऐसा परिणाम सामने आता हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुच्छेद 371-च में अध्यारोही खण्ड के परिणामस्वरूप, उक्त अनुच्छेद के खण्ड (क) से (त) का इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना है, जिससे खण्ड (क) से (त) के अंतर्गत आने वाले विषयों की बाबत संविधान के अन्य उपबंधों से विचलन अनुज्ञात किया जा सके बशर्ते कि उक्त विचलन ऐसे परिमाण का नहीं है, जिससे संविधान के किसी आधारभूत लक्षण को परिवर्तित कर दिया जाता है। अनुच्छेद 371-च के संरक्षण का फायदा उठाने के लिए यह आवश्यक है कि विधि अध्यारोही खण्ड की परिधि पर (अधिरोपित) ऊपरवर्णित परिसीमा से परे न जाए।

121. अब मैं इस प्रश्न पर विचार करूंगा कि क्या 1976 वाले अधिनियम और 1980 वाले अधिनियम में अंतर्विष्ट आक्षेपित उपबंधों द्वारा संविधान के उपबंधों से ऐसा विचलन किया गया है, जिससे वे सांविधानिक स्कीम से असंगत हो गए हैं और उनका संविधान के किसी आधारभूत लक्षण को परिवर्तित करने का प्रभाव है। जैसा कि पहले ही उपदर्शित किया जा चुका है, आक्षेपित उपबंधों को चुनौती दो विषयों के संबंध में, अर्थात् (i) भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए 12 स्थानों का आरक्षण; और (ii) संघों के लिए एक स्थान के आरक्षण के सम्बन्ध में है।

122. 1980 के अधिनियम सं० 8 द्वारा 1950 वाले अधिनियम की धारा 7 में अंतःस्थापित उपधारा (1-क) के अधीन भूटिया और लेप्चा उद्भव मूल के सिक्किमी लोगों के लिए 12 स्थानों के आरक्षण के संबंध में, 1982 के अंतरण मामला सं० 78 में याची के लिए न्याय मित्र के रूप में हाज़िर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री आर०के०जैन ने दो तर्क दिए हैं। प्रथमतः उन्होंने यह तर्क दिया है कि नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए समरूपी आरक्षण किए बिना, भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए स्थानों के आरक्षण से संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन गारण्टीकृत समता के अधिकार का उल्लंघन होता है। दूसरी दलील ऐसे आरक्षण की सीमा के संबंध में है। श्री जैन ने यह निवेदन किया है कि तारीख 22 जून, 1978 के संविधान (सिक्किम) अनुसूचित जनजातियां आदेश, 1978 के अधीन भूटिया और लेप्चा लोगों को अनुसूचित जनजातियों के रूप में घोषित किया गया है और राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण को संविधान का अनुच्छेद 332 लागू होता है। श्री जैन ने अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) के प्रतिनिर्देश किया है, जिसमें यह विहित किया गया है कि खण्ड (1) के अधीन किसी राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जातीय या अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या का अनुपात, उस विधानसभा में स्थानों की कुल संख्या से यथाशक्य वही होगा जो, उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या का अनुपात उस राज्य की कुल जनसंख्या से है। श्री जैन ने यह उपदर्शित किया है कि 1971 की जनगणना के अनुसार, कुल जनसंख्या लगभग दो लाख 9 हजार 843 थी, जिसमें भूटिया और लेप्चा लोगों की जनसंख्या लगभग 51,600 थी, और 1981 की जनगणना के अनुसार, कुल जनसंख्या लगभग 3,16,385 थी। जिसमें भूटिया और लेप्चा लोगों

1993(2) eILR(PAT) SC 143

की जनसंख्या लगभग 73,623 थी। श्री जैन का यह निवेदन है कि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि भूटिया और लेप्चा लोग कुल जनसंख्या का लगभग 25 प्रतिशत (भाग) गठित करते हैं, विधानसभा में भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए 32 स्थानों में से 12 स्थानों का आरक्षण, जो विधानसभा में स्थानों की कुल संख्या का 38 प्रतिशत है, भूटिया और लेप्चा लोगों की जनसंख्या के सिक्किम की कुल जनसंख्या से अनुपात के आधिक्य में है और इसलिए भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए 12 स्थानों के पूर्वोक्त आरक्षण से संविधान के अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) का उल्लंघन होता है। श्री जैन ने यह दलील दी है कि आरक्षण का उक्त उपबंध जनतंत्र के लिए विनाशकारी है, जो संविधान का एक आधारभूत लक्षण (तत्व) है। पूर्वोक्त निवेदन के समर्थन में, श्री जैन ने **रनोल्ड्स** बनाम **सिम्स**[1] वाले मामले में संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब किया है।

123. मेरे मतानुसार, श्री जैन की यह दोनों दलीलें अस्वीकार्य हैं। भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए स्थानों का आरक्षण इसलिए आवश्यक है कि वे अल्पसंख्यक हैं और आरक्षण के अभाव में उनका विधानसभा में कोई प्रतिनिधित्व नहीं भी हो सकता है। नेपाली मूल के सिक्किमी लोग सिक्किम में बहुमत में हैं और स्वयं अपनी निर्वाचन शक्ति के आधार पर वे अनारक्षित स्थानों पर विधान-सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, भूटिया और लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों की एक सुभिन्न संस्कृति और परम्परा है, जो नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों की संस्कृति और परम्परा से भिन्न है। इस अंतर को ध्यान में रखते हुए, भूटिया और लेप्चा लोगों को संविधान के अनुच्छेद 342 के अधीन अनुसूचित जनजातियों के रूप में घोषित किया गया है। हमारे समक्ष उक्त घोषणा को प्रश्नगत नहीं किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 332 में अनुसूचित जनजातियों के लिए राज्य की विधानसभा में स्थानों के आरक्षण का अभिव्यक्त उपबंध किया गया है। ऐसे आरक्षण को, जिसे संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से अनुज्ञात किया गया है, संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन गारण्टीकृत समता के अधिकार के वंचन के अधिकार पर चुनौती नहीं दी जा सकती।

124. भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए स्थानों के आरक्षण की सीमा से संबंधित द्वितीय दलील संविधान के अनुच्छेद 332(3) के उपबंधों पर आधारित है। अनुच्छेद 332 के खण्ड (3) में यह अनुध्यात किया गया है कि किसी राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या का अनुपात, उस विधानसभा में स्थानों की कुल संख्या से यथाशक्य वही होगा जो, उस राज्य की अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या का उस राज्य की कुल जनसंख्या से है। तथापि उक्त उपबंध को अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के प्रकाश में देखा जाना है, जिसमें यह उपबंध किया गया है—

> "(च) संसद् सिक्किम की जनता विभिन्न विभागों (वर्गों) के अधिकारों और हितों की संरक्षा करने के प्रयोजन के लिए सिक्किम राज्य को विधान सभा में उन स्थानों की संख्या के लिए, जो ऐसे विभागों के अभ्यर्थियों द्वारा भरे जा सकेंगे और ऐसी सभा निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन के लिए उपबंध कर सकेगी, जिनसे केवल ऐसे विभागों (वर्गों) के अभ्यर्थी ही सिक्किम राज्य की विधान सभा के निर्वाचन के लिए खड़े हो सकेंगे।"

125. इस उपबंध द्वारा संसद् को सिक्किम राज्य की विधान सभा में स्थानों की संख्या विहित करते हुए, उपबंध करने के लिए सशक्त किया गया है, जो सिक्किम की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के अभ्यर्थियों द्वारा भरे जा सकेंगे, जिसका उद्देश्य उन वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करना है। अनुच्छेद 371-च में अंतर्विष्ट अध्यारोही खण्ड द्वारा संसद् को परिसीमा के अंतर्गत अनुच्छेद 332(3) द्वारा अनुध्यात अनुपात से विचलन करने के लिए समर्थ बनाया गया है, जो अनुच्छेद 371-च द्वारा प्रदत्त शक्ति में अंतर्निहित है, अर्थात् संविधान के किसी आधारभूत लक्षण का परिवर्तन नहीं होना चाहिए। अतः इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए, 32 स्थानों में से 12 स्थानों के आरक्षण का उपबंध करते समय, संसद् ने उक्त परिसीमा की उपेक्षा करते हुए, कार्य किया है। इस प्रश्न पर विचार करते समय, यह बात ध्यान में रखी जानी है कि लेप्चा लोग सिक्किम के मूल निवासी हैं और भूटिया लोग सिक्किम में काफी पहले पंद्रहवीं और 16वीं शताब्दी में आए थे और वे उसी धर्म (बौद्ध धर्म) के अनुयायी हैं। उनकी संस्कृति ऐसी है, जो नेपाली और अन्य लोगों की संस्कृति से भिन्न है, जो सिक्किम में काफी बाद में आए। चूंकि सिक्किम की जनसंख्या में नेपाली लोगों का अनुपात भूटिया और लेप्चा लोगों की जनसंख्या की तुलना में कहीं अधिक था, अतः सिक्किम की राज्य परिषद् में भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए स्थानों के आरक्षण का उपबंध करना आवश्यक हो गया, जब निर्वाचित सदस्यों के माध्यम से वर्ष 1952 में सिक्किम के प्रशासन में प्रतिनिधित्व का तत्व जोड़ा गया। तब से सिक्किम के भारत संघ में नए राज्य के रूप में प्रवेश (सम्मिलित किए जाने) के समय तक सिक्किम परिषद् में भूटिया और लेप्चा लोगों के लिए स्थानों का आरक्षण रहा, जिस परिषद् ने बाद में सिक्किम विधानसभा का रूप ले लिया। चूंकि सिक्किम के शासक भूटिया-मूल के थे, जो बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, अतः भूटिया और लेप्चा लोगों के समान ही नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए सिक्किम परिषद् और सिक्किम विधानसभा में स्थानों का आरक्षण किया गया और ऐसे आरक्षणों में एक और भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित स्थानों और दूसरी ओर नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित स्थानों के बीच समानता बरती गई। उस तारीख को, जब सिक्किम भारत संघ में सम्मिलित किया गया, विधानसभा में 32 निर्वाचित सदस्य थे, जिनमें से 16 स्थान (एक संघ स्थान सहित) भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित किए गए और 16 स्थान (अनुसूचित जातियों के लिए एक स्थान सहित) नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित किए गए। सिक्किम परिषद् और सिक्किम विधानसभा में भूटिया और लेप्चा मूल के तथा नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के बीच स्थानों के आरक्षण में यह समानता यह सुनिश्चित करने के उद्देश्य से थी कि सिक्किम की जनसंख्या का कोई भी वर्ग मुख्यतः अपने जातीय मूल के कारण आधिपत्य

[1](1964) 377 यू० एस० 533.

26—251 Law & Justice/2001.

की स्थिति अर्जित नहीं करता है। तारीख 8 मई, 1973 के त्रिपक्षीय करार के पैरा 5 में इस बात का अभिव्यक्त रूप से उपबंध किया गया और सिक्किम शासन अधिनियम, 1974 की धारा 7(2) में भी ऐसा ही उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) द्वारा उक्त संरक्षण का परिरक्षित किया जाना ईप्सित है, जो त्रिपक्षीय करार के खण्ड (5) में परिकल्पित किया गया था, क्योंकि उसमें भी सिक्किम की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करने का उपबंध किया गया है। 1950 वाले अधिनियम की धारा 7 की उपधारा (1-क) के खण्ड (क) में अंतर्विष्ट आक्षेपित उपबंध द्वारा, जिसमें भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए 12 स्थानों के आरक्षण का उपबंध किया गया है, इस संरक्षण को अधिक सीमित रीति में दिए जाने की ईप्सा की गई है और ऐसा भारत के संविधान के अधीन यथा-गठित, सिक्किम राज्य की विधान सभा में भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित स्थानों का अनुपात सिक्किम के भूतपूर्व राज्य में विधान सभा में 50 प्रतिशत से घटा कर लगभग 38 प्रतिशत कर दिया गया है। अतः यह प्रतीत होगा कि भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए विधानसभा में 38 प्रतिशत स्थानों की सीमा तक आरक्षण का उपबंध करके, संसद् ने 50 प्रतिशत की सीमा तक संरक्षण, जो उन्हें भूतपूर्व सिक्किम राज्य में उपलब्ध था, और संविधान के अनुच्छेद 332(3) के अधीन परिकल्पित संरक्षण के बीच संतुलन रखने का प्रयास किया है, जो उन्हें सिक्किम की कुल जनसंख्या से उनकी जनसंख्या के अनुपात के अनुसार 25 प्रतिशत स्थान की सीमा तक आरक्षण के लिए हकदार बनाता। यह तर्क दिया गया है कि अनुच्छेद 332(3) के उपबंधों से यह विचलन संविधान में सन्निहित 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत के अल्पीकरण में है और वह जनतंत्र के लिए विनाशकारी है, जो संविधान का एक आधारभूत लक्षण (तत्व) है। यह तर्क इस धारणा पर आधारित है कि जनतंत्र के परिरक्षण के लिए 'एक व्यक्ति, एक मत' का सिद्धांत अनुलंघनीय है और उसमें अनुच्छेद 371-च में अंतर्विष्ट अध्यारोही खण्ड को ध्यान में नहीं रखा गया है जो, जब उसे अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के साथ पढ़ा जाता है, यह परिकल्पना करता है कि संसद् सिक्किम की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करते समय (जिसमें भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोग सम्मिलित होंगे) अनुच्छेद 332 सहित, संविधान के उपबंधों से विचलन कर सकेगी।

126. 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत में यह परिकल्पित किया गया है कि निर्वाचकों के मतों के मूल्य में समानता होनी चाहिए। ऐसी समानता का, यद्यपि वह प्रतिनिधायी जनतंत्र के लिए आदर्श है, प्राप्त किया जाना बहुत कठिन है। इस जनतांत्रिक मार्ग का अनुसरण करने वाली प्रत्येक पद्धति में कुछ न कुछ विचलन होता ही है। निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन के विषय में, प्रायः ऐसा होता है कि एक निर्वाचन-क्षेत्र की जनसंख्या अन्य निर्वाचन-क्षेत्र की जनसंख्या से भिन्न होती है और उसके परिणामस्वरूप, यद्यपि दोनों निर्वाचन-क्षेत्र एक सदस्य का निर्वाचन करते हैं, (तथापि) कम जनसंख्या वाले निर्वाचन-क्षेत्र में निर्वाचक के मत का महत्व अधिक जनसंख्या वाले निर्वाचन-क्षेत्र के निर्वाचक के मत के मूल्य से अधिक होता है। उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन का मामला ले सकते हैं। इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, वेल्स और उत्तरी आयरलैण्ड के बीच स्थानों का कानूनी आबंटन है, जिसके अधीन स्काटलैंड के लिए 71 से कम स्थान नहीं होंगे; वेल्स के लिए 35 से कम स्थान नहीं होंगे और उत्तरी आयरलैंड के लिए 17 से कम स्थान नहीं होंगे। यह पाया गया है कि स्काटलैंड का बहुत अधिक प्रतिनिधित्व है, और यह आधिक्य 14 स्थानों का है और वेल्स के प्रतिनिधित्व में पांच स्थान अधिक हैं तथा इंग्लैण्ड के प्रतिनिधित्व में 14 स्थान कम हैं। इन असमानताओं के लिए जो औचित्य दिया गया है, वह यह है कि हाईलैंड्स जैसे छितरी (कम) जनसंख्या वाले क्षेत्रों में निर्वाचन-क्षेत्र अन्यथा भौगौलिक दृष्टि से असुविधाजनक रूप में बड़े होंगे। प्रो० वेड ने इस औचित्य को प्रश्नगत किया है (एच० डब्ल्यू० पी० वेडः "कान्स्टीट्यूशनल फण्डामेंट्ल्स" हेमलिन लैक्चर्स, 32वीं सीरीज़ 1980, पृष्ठ 5) उन्होंने यह उपदर्शित किया है कि यूनाइटिड किंगड्म की संघटक काउंटियों के अंदर भिन्न-भिन्न निर्वाचन क्षेत्रों के आकार-प्रकार (साइज) में बड़ी असमानताएं हैं और सबसे छोटे निर्वाचन-क्षेत्र में केवल 25000 मतदाता हैं, जब कि सबसे बड़े निर्वाचन क्षेत्र में उससे लगभग चार गुने मतदाता, अर्थात् 96000 मतदाता हैं। उन्होंने निर्वाचन सुधारों पर ब्लैक आयोग की रिपोर्ट (1976) के प्रतिनिर्देश किया है, जिसमें यह सिफारिश की गई है कि यह विसंगति दोः एक के अनुपात से कभी भी अधिक नहीं होनी चाहिए, और इस संबंध में उन्होंने यह मत व्यक्त किया है—"निश्चित रूप से यह अधिकतम सीमा है, जिसे सहनीय सीमा माना जाना चाहिए" (पृष्ठ 7)। विद्यमान वस्तुस्थिति की आलोचना करते समय, प्रो० वेड ने यह कहा है—

> "ब्रिटिश 'संसद् यद्यपि वह अनेक अन्य उपायों में समानता के सिद्धांत की खोज में गम्भीर प्रतीत होती है, विभिन्न मतदाताओं के बीच प्रतिनिधित्व की समानता में उसी प्रकार हितबद्ध नहीं दिखाई देती है, जिस प्रकार वह यूनाइटेड किंगडम के विभिन्न भागों के बीच प्रतिनिधित्व की समानता बरतने के विषय में हितबद्ध दिखाई नहीं देती। वर्ष 1948 से उसने 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत पर कठोरतापूर्वक बल दिया है। वह 'एक मत, एक मूल्य' के अन्योन्याश्रितता (सहसंबंध) के सिद्धांत को कब स्वीकार करेगी"। (पृष्ठ 8)।

127. राज्य विधान-मण्डलों में स्थानों के प्रभाजन के विषय पर संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने अनेक मामलों में विचार किया है। ऊपरनिर्दिष्ट **रेनोल्ड्स** बनाम **सिम्स** वाले मामले में, उच्चतम न्यायालय ने, समान संरक्षण खण्ड की कसौटी पर उक्त विषय की परीक्षा करते समय, यह अभिनिर्धारित किया है कि समान संरक्षण खण्ड यह अपेक्षा करता है कि द्विसदनीय राज्य विधानमण्डल के दोनों सदनों में स्थान जनसंख्या के आधार पर प्रभाजित किये जाने चाहिए और समान जनसंख्या सिद्धांत से ऐसे विचलन तब तक सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय हैं, जब तक ऐसे विचलन, युक्तिसंगत राज्य नीति के प्रभावी बनाएं जाने के कार्य से आनुषंगिक विधिसम्मत विचारणाओं पर आधारित रहते हैं। मु० न्या० वारेन ने न्यायालय के 6 सदस्यों के मत को व्यक्त करते हुए, यह मत व्यक्त किया हैः—

> "....हम यह महसूस करते हैं कि विधायी जिलों को इस प्रकार व्यवस्थित करना व्यावहारिक रूप से असम्भव है कि प्रत्येक

जिले के निवासियों या नागरिकों या मतदाताओं की समान संख्या हो। गणितीय शुद्धता या प्रमितता व्यवहार्य सांविधानिक अध्यपेक्षा नहीं है।" (पृष्ठ 577)

* * * *

"..... जब तक कठोर जनसंख्या मानक से विचलन युक्तिसंगत राज्य नीति को कार्यान्वित किए जाने के कार्य से आनुषंगिक विधिसम्मत विचारणाओं पर आधारित हैं, तब तक समान जनसंख्या सिद्धांत से कुछ विचलन, द्विसदनीय राज्य विधानमण्डल के दोनों या दोनों में से किसी सदन में थानों के प्रभाजन की बाबत सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय हैं।" (पृष्ठ 579)

न्यायालय ने 16 प्रतिशत सीमा तक विचलन की पुष्टि की है (देखें **महेन** बनाम **होवेल**[1])।

128. आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय ने **अटर्नी जनरल (सी० टी० एच०) ई एक्स० आर० ई० एल० मेककिनले** बनाम **कामन वेल्थ**[2] वाले मामले में आस्ट्रेलिया संविधान की धारा 24 के संदर्भ में इस विवाद्यक पर विचार किया है, जिस धारा में यह उपबंध किया गया है कि प्रतिनिधि सदन में ऐसे सदस्य होंगे, जिन्हें सीधे कामनवैल्थ के लोगों द्वारा चुना जाएगा। यह तर्क दिया गया कि "कामनवैल्थ के लोगों द्वारा चुना जाएगा। शब्द राज्य के अंदर प्रत्येक निर्वाचन प्रभाग में लोगों की यथाशक्य समान संख्या की अपेक्षा करते हैं या आनुकल्पिक रूप से, निर्वाचकों की वही संख्या होनी चाहिए। उक्त दलील अस्वीकार कर दी गई और यह अभिनिर्धारित किया गया (6:1 के बहुमत द्वारा) कि संविधान की धारा 24 यह अपेक्षा नहीं करती थी कि निर्वाचन प्रभागों में लोगों की संख्या या निर्वाचकों की संख्या समान होनी चाहिए। प्रभाजन पर अमरीकी उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय आस्ट्रेलियाई संविधान के संदर्भ में लागू नहीं माने गए । मु० न्या० बारबिक ने यह मत व्यक्त किया:—

"अतः मेरी यह राय है कि धारा 24 के द्वितीय पैराग्राफ को इस प्रकार पढ़ा और समझा नहीं जा सकता है कि उसमें इस आशय की कोई गारण्टी निहित है कि किसी राज्य में चुने गए सदस्यों की संख्या और उस राज्य की जनसंख्या के बीच गणितीय शुद्धता का संबंध होगा या आस्ट्रेलिया में प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक निर्वाचक का मत या समान मत होगा।" (पृष्ठ 22)

129. इसी प्रकार न्या० मेसन ने जैसे कि विद्वान मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे यह कहा—

"मामले का सारतत्व यह है कि निर्वाचन प्रभागों के बीच समानता या मत के महत्व/मूल्य में समानता की संकल्पना अपेक्षाकृत आधुनिक संकल्पना है, जिसके लिए हमारे संविधान द्वारा उपबंधित जनतांत्रिक प्रतिनिधायी सरकार की पद्धति में कोई संकेत नहीं किया गया था"। (पृष्ठ 62)

[1](1973) 410 यू० एस० 315.

[2](1975) 135 सी० एल० आर० 1.

इस संबंध में, हमारे संविधान की स्कीम यह है कि अनुच्छेद 327 के अधीन संसद् निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन से संबंधित विधि बनाने के लिए सशक्त है और अनुच्छेद 329-क के अधीन ऐसी विधि की (विधि) मान्यता या ऐसे निर्वाचन क्षेत्रों को स्थानों के आबंटन की विधिमान्यता को किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 327 के अधीन प्रदत्त शक्ति के प्रयोग में संसद् ने परिसीमन अधिनियम, 1962 अधिनियमित किया है, जिसमें परिसीमन आयोग के गठन का उपबंध किया गया है, जिसमें लोकसभा में अनेक राज्यों के लिए स्थानों के आबंटन के नवीनतम जनसंख्या आंकड़ों के आधार पर, प्रत्येक राज्य की विधानसभा में स्थानों की कुल संख्या और लोक सभा तथा राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचनों के प्रयोजन के लिए प्रत्येक राज्य के राज्यक्षेत्रीय निर्वाचन क्षेत्रों के विभाजन का उपबंध किया गया है। उक्त अधिनियम की धारा 9(1) में यह विहित किया गया है कि आयोग नवीनतम जनसंख्या आंकड़ों के आधार पर निर्वाचन-क्षेत्रों का परिसीमन करेगा किंतु वह खंड (क) से (घ) में निर्दिष्ट विचारणाओं को ध्यान में रखेगा। खंड (क) में यह अपेक्षा की गई है कि सभी निर्वाचन-क्षेत्र, यथाशक्य, भौगोलिक रूप से सघन क्षेत्र होंगे और उनका परिसीमन करते समय, भौतिक विशेषताओं, प्रशासनिक एककों की विद्यमान सीमाओं, संचार-सुविधा और सार्वजनिक सुविधा को ध्यान में रखा जाएगा। खंड (ख) में यह अपेक्षा की गई है कि प्रत्येक विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र का इस प्रकार परिसीमन किया जाएगा कि वह पूर्णतः एक संसदीय निर्वाचन क्षेत्र के अंतर्गत आएगा। खंड (ग) और (घ) निर्वाचन-क्षेत्रों के परिस्थल के संबंध में हैं, जिनमें अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं। इससे यह दर्शित होता है कि जनसंख्या, यद्यपि वह महत्वपूर्ण है, उन बातों में से केवल एक बात है, जिन्हें निर्वाचन-क्षेत्रों का परिसीमन करते समय, ध्यान में रखा जाना है, जिसका अर्थ यह हुआ कि निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन के विषय में जनसंख्या की एकरूपता और निर्वाचकों की संख्या की एकरूपता आवश्यक नहीं है। दूसरे शब्दों में, मतों की समानता या एक मत, एक मूल्य के सिद्धांत के कठोरतापूर्ण पालन पर बल नहीं दिया गया है।

130. अनुच्छेद 332 के खंड (3) में "यथाशक्य" शब्द प्रयुक्त किए गए हैं । इन शब्दों से यह उपदर्शित होता है कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण के विषय में भी कुछ सीमा तक इस अध्यपेक्षा से विचलन अनुज्ञेय होगा कि किसी राज्य की विधानसभा में अनुसूचित या अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या का स्थानों की कुल संख्या से वही अनुपात होगा, जो उस राज्य में अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों की संख्या का, जिस राज्य की बाबत स्थान इस प्रकार आरक्षित किए गए हैं, राज्य की कुल जनसंख्या से है। अनुच्छेद 371-च के खंड (च) के साथ पठित, उक्त अनुच्छेद में अध्यारोही खण्ड द्वारा अनुच्छेद 332 (3) में अधिकथित अनुपात से स्थानों के आरक्षण के विषय में विचलन के क्षेत्र को विस्तृत किया गया है। ऐसे विचलन पर अधिरोपित एकमात्र परिसीमा यह है कि वह इस सीमा तक नहीं होना चाहिए कि उसके परिणामस्वरूप स्थिति अनुचित रूप से अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के

पक्ष में हो जाए जिनके लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं तथा संतुलन बिगड़ जाए, और तद्द्वारा अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक के रूप में संपरिवर्तित हो जाए। इससे राज्य में विधानमण्डल का जनतांत्रिक कृत्यकरण प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगा, जो प्रतिनिधायी जनतंत्र का मूल आधार है। 1950 वाले अधिनियम की धारा 7 की उपधारा (1-क) के खंड (क) में 32 स्थान वाली विधानसभा में 12 स्थानों के आरक्षण का उपबंध किया गया है, अर्थात् भूटिया-लेप्चा के सिक्किमी लोगों के लिए लगभग 38 प्रतिशत स्थानों की सीमा तक। अतः उक्त उपबंध से अनुच्छेद 371-च (च) के अधीन संसद् को प्रदत्त शक्ति की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं होता है और यह नहीं कहा जा सकता है कि वह असंवैधानिकता के दोष से दूषित है।

131. अन्य चुनौती संघों के लिए एक स्थान के आरक्षण के संबंध में है। इस स्थान के सम्बन्ध में यह उल्लेख करना उचित होगा कि 1950 वाले अधिनियम की धारा 25-क में संघ निर्वाचन-क्षेत्र के लिए निर्वाचक नामावली का उपबंध किया गया है, जिसमें केवल सिक्किम के लिए विधानसभा का गठन करने के लिए अप्रैल, 1974 में सिक्किम में आयोजित निर्वाचनों के प्रयोजन के लिए मान्यता प्राप्त मठों के संघ ही रजिस्ट्रीकृत किए जाने के लिए हकदार हैं। 1951 वाले अधिनियम की धारा 5-क की उपधारा (2) के खंड (ग) में यह विहित किया गया है कि कोई भी व्यक्ति 1980 वाले अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् किसी समय गठित की जाने वाली सिक्किम की विधानसभा में स्थान भरने के लिए चुने जाने हेतु अर्हित नहीं होगा, जब तक कि संघ के लिए आरक्षित स्थान के मामले में, वह संघ निर्वाचन-क्षेत्र का निर्वाचक नहीं है। उपर्युक्त उपबंधों से यह उपदर्शित होता है कि सिक्किम की विधान सभा में एक स्थान के लिए , जो संघों के लिए आरक्षित है, 1950 वाले अधिनियम की धारा 25-क के अधीन पृथक् निर्वाचक नामावली तैयार की जानी है और केवल सिक्किम के लिए विधानसभा का गठन करने के लिए अप्रैल, 1974 में आयोजित निर्वाचनों के प्रयोजन के लिए मान्यताप्राप्त मठों के संघ ही उक्त निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत किए जाने के लिए हकदार हैं और धारा 5-क(2)(ग) को देखते हुए, संघ निर्वाचन क्षेत्रों के लिए निर्वाचक से भिन्न कोई व्यक्ति संघों के लिए उक्त आरक्षित स्थान को भरने के लिए चुने जाने हेतु अर्हित नहीं है।

132. इन उपबंधों की विधिमान्यता को प्रश्नगत करते हुए, श्री जैन ने यह तर्क दिया है कि 1950 वाले अधिनियम की धारा 7 (1-क)(ग) के उपबंध से संविधान के अनुच्छेद 15(1) के अधीन गारण्टीकृत अधिकार का उल्लंघन होता है, क्योंकि संघों (बौद्ध लामाओं) के लिए एक स्थान आरक्षित करके, राज्य ने ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध भेदभाव बरता है, जो बौद्ध नहीं है और यह भेदभाव केवल धर्म के आधार पर किया गया है। श्री जैन ने यह तर्क भी दिया है कि 1950 वाले अधिनियम की धारा 25-क और 1951 वाले अधिनियम की धारा 5-क(2)(ग) में अंतर्विष्ट उपबंधों से संविधान के अनुच्छेद 325 का उल्लंघन होता है क्योंकि इन उपबंधों में पृथक् निर्वाचक नामावली के अधार पर संघों के लिए आरक्षित स्थान के लिए निर्वाचन का उपबंध किया गया है, जिसमें केवल संघ ही रजिस्ट्रीकृत किए जाने के लिए हकदार हैं, और अन्य व्यक्तियों को केवल धर्म के आधार पर ही उक्त निर्वाचक नामावली में निर्वाचकों के रूप में रजिस्ट्रीकृत किए जाने से अपवर्जित किया गया है। श्री जैन ने यह निवेदन किया है कि ये उपबंध पंथ-निरपेक्षता (धर्मनिरपेक्षता) की संकल्पना से असंगत हैं, जो संविधान का एक आधारभूत लक्षण (तत्व) है।

133. संघ के लिए एक स्थान के आरक्षण और केवल संघों की पृथक् निर्वाचक नामावली के माध्यम से उसके लिए निर्वाचन को श्री पाराशरन् ने ऐतिहासिक कारणों से न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया है। उन्होंने यह तर्क दिया है कि संघ ने सिक्किम के पूर्वतम ज्ञात इतिहास के समय से ही समाज के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और उन्होंने राज्य के कार्यों (मामलों) में महत्वपूर्ण विवाद्यकों का विनिश्चय करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह उपदर्शित किया गया है कि लामाओं और सामान्यजन के एक निकाय-'लहाडे मेडी' ने सिक्किम के लोगों के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है और ऐसे वर्ग के प्रतिनिधित्व का उपबंध करने के लिए संघ स्थान का उपबंध किया गया, जो वर्ग सिक्किम के भूटिया और लेप्चा लोगों की आधारभूत संस्कृति के परिरक्षण के लिए उत्तरदायी था, जिनमें सिक्किम के नेपाली समुदाय के कुछ वर्ग भी सम्मिलित हैं, जो बौद्ध हैं। इस प्रकार यह निवेदन किया गया है कि उनके हित सिक्किम के अल्पसंख्यक समुदायों के हितों के पर्याय हैं और इस प्रकार क्रमशः सिक्किम राज्य परिषद और राज्य विधानसभा में संघ के लिए ऐसा स्थान सदा नामनिर्देशित और बाद में आरक्षित किया गया है।

134. अनुच्छेद 15 के खंड (1) द्वारा केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या उन में से किसी के आधार पर किसी नागरिक के विरुद्ध राज्य द्वारा विभेद को प्रतिषिद्ध किया गया है। तथापि, खंड (3) द्वारा राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष उपबंध करने के लिए अनुज्ञात किया गया है। इसी प्रकार खण्ड (4) द्वारा राज्य को नागरिकों के सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष उपबंध करने के लिए अनुज्ञात किया गया है। तथापि, खंड (3) और (4) द्वारा धर्म के आधार पर विभेद के विरुद्ध प्रतिषेध के अल्पीकरण में विशेष उपबंधों का किया जाना अनुज्ञात नहीं किया गया है। इस न्यायालय ने यह अधिकथित किया है कि अनुच्छेद 15(1) में अंतर्विष्ट, राज्य को यह सांविधानिक आदेश राजनीतिक और अन्य अधिकारों को भी लागू होता है और विभिन्न धार्मिक समुदायों के सदस्यों के लिए पृथक् निर्वाचक-मण्डलों के आधार पर निर्वाचन का उपबंध करने वाली किसी भी विधि से इस खण्ड का उल्लंघन होता है (देखें **नैनसुख दास बनाम उत्तर प्रदेश**[1] वाला मामला)।

135. इसी प्रकार अनुच्छेद 325 में यह अपेक्षा की गई है कि संसद् के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन या प्रत्येक सदन के लिए निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र के लिए एक साधारण निर्वाचक-नामावली होगी और केवल धर्म मूलवंश, जाति, लिंग या इनमें से किसी के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसी किसी नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र नहीं होगा या ऐसे किसी

[1] [1953] एस० सी० आर० 1184=ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 384.

1993(2) eILR(PAT) SC 143

निर्वाचन-क्षेत्र के लिए किसी विशेष निर्वाचक-नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र नहीं होगा। वे उपबंध, जो पृथक् निर्वाचक मण्डलों के आधार पर निर्वाचन अनुज्ञात करते हैं, राज्य की विधान परिषद् से संबंधित, अनुच्छेद 171 के खंड (3) के उपखंड (क), (ख) और (ग) में अंतर्विष्ट उपबंध हैं। उक्त उपबंधों में नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों और स्थानीय प्राधिकारियों के सदस्यों [उपखंड (क)]; विश्वविद्यालयों के स्नातक [उपखंड (ख)]; और शिक्षकों [उपखंड (ग)] के पृथक् निर्वाचक मण्डलों का उपबंध किया गया है। उनमें धर्म के आधार पर पृथक् निर्वाचक नामावलियों के तैयार किए जाने का उपबंध नहीं किया गया है। अब विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या आक्षेपित उपबंध, जिनमें संघों के लिए एक स्थान के आरक्षण, संघ निर्वाचन क्षेत्र के लिए विशेष निर्वाचक नामावलियों की तैयारी, जिसमें केवल संघों को ही निर्वाचकों के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया जा सकता है, और ऐसा व्यक्ति ही, जो उक्त निर्वाचक नामावली में निर्वाचक है, संघ स्थान के लिए निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र है, इस आधार पर अनुच्छेद 15(1) और 325 के उपबंधों का उल्लंघन करने वाले माने जा सकते हैं कि सिक्किम राज्य की विधान-सभा में संघों के लिए आरक्षित एक स्थान के संबंध में, ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध, जो बौद्ध नहीं है, केवल धर्म के आधार पर भेदभाव बरता जा रहा है और इसी प्रकार संघ निर्वाचन-क्षेत्र के लिए विशेष नामावलियों की तैयारी में ऐसा व्यक्ति, जो बौद्ध नहीं है, केवल धर्म के आधार पर ही उक्त निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र हो जाता है। इस प्रयोजन के लिए अनुच्छेद 15(1) और 325 में "केवल धर्म के आधार पर" शब्दों का अर्थान्वयन करना आवश्यक है। इस संदर्भ में यह उपदर्शित करना उचित होगा कि भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 298 की उपधारा (1) में "केवल धर्म, जन्म-स्थान, मूल वंश, रंग के आधारों पर" शब्द अंतर्विष्ट थे। **पंजाब प्रान्त** बनाम **दौलत सिंह**[1] वाले मामले में, पंजाब भूमि अन्य-संक्रामण अधिनियम, 1900 की धारा 13-क के उपबंधों को इस आधार पर चुनौती दी गई कि उनसे भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 298 की उपधारा(1) का उल्लंघन होता है। परिसंघीय न्यायालय में न्या० ब्यूमोंट ने, अपने विसम्मति-निर्णय में यह मत व्यक्त किया था कि धारा 298 की उपधारा(1) के निबंधनों को लागू करते समय, न्यायालय के लिए अधिनियम की परिधि और उद्देश्य पर विचार करना आवश्यक था, जिसे आक्षेपित किया गया था, जिससे कि उन आधारों को अवधारित किया जा सके, जिन पर ऐसा अधिनियम आधारित है। प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति ने यह कसौटी स्वीकार नहीं की। इस संबंध में, लार्ड थेंकर्टन ने, न्यायिक समिति की राय व्यक्त करते हुए, यह मत व्यक्त किया है:—

> "माननीय न्यायाधीश इस कसौटी को सही कसौटी के रूप में स्वीकार करने में असमर्थ हैं। उनके मतानुसार, प्रश्न यह नहीं है कि क्या आक्षेपित अधिनियम, धारा 298 की उपधारा(1) में विनिर्दिष्ट किसी एक आधार पर या अधिक आधारों पर आधारित है, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या केवल उक्त आधारों पर ही उसके परिणामस्वरूप प्रतिषेध सामने आ सकता है। इस बाबत कि क्या उक्त उपधारा का उल्लंघन किया गया है, समुचित कसौटी उक्त उपधारा द्वारा प्रदत्त वैयक्तिक अधिकार पर आक्षेपित अधिनियम की प्रतिक्रिया अभिनिश्चित करना है, और जहां उक्त अधिनियम की परिधि और उद्देश्य से, उसके उपबंधों के समुचित अर्थान्वयन के आधार पर अधिनियम के प्रवर्तन के प्रभाव को अवधारित करने में सहायता मिल सकती है, यदि इस प्रकार अवधारित अधिनियम के प्रभाव में प्रत्येक वैयक्तिक अधिकार का उल्लंघन अंतर्वलित है, वहीं अधिनियम का उद्देश्य, चाहे वह कितना ही प्रशंसनीय क्यों न हो, उपधारा(1) के प्रतिषेध के प्रभाव को कम नहीं करेगा (एफ०सी०आर० का पृष्ठ 18: ए०आई०आर० का पृष्ठ 71)।

मुम्बई राज्य बनाम **मुम्बई शिक्षा समिति**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने अनुच्छेद 29(2) के संदर्भ में, जिसमें "केवल धर्म के आधार पर" पद प्रयुक्त किया गया है, ऊपरनिर्दिष्ट **पंजाब प्रान्त** बनाम **दौलत सिंह**[2] वाले मामले में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति द्वारा अधिकथित कसौटी को स्वीकार किया है।

136. इस संदर्भ में, मैं **मद्रास राज्य** बनाम **श्रीमती चंपकम् दोराइजन**[3] वाले मामले में, इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रतिनिर्देश करना भी उचित समझता हूं, जिसमें यह प्रश्न उद्भूत हुआ था कि क्या एक याची श्रीनिवासन केवल जाति के आधार पर, को प्रवेश से वंचित किया गया था। यह पाया गया कि उक्त याची को, जो ब्राह्मण था और जिसने आंग्ल-भारतीय और भारतीय ईसाईयों की तुलना में उच्चतर अंक प्राप्त किए थे, किंतु जो उक्त समुदायों के लिए आरक्षित स्थानों में से किसी स्थान पर प्रवेश नहीं पा सका था, जब कि उसका केवल यही दोष था कि वह ब्राह्मण था और उक्त समुदाय में से किसी समुदाय का सदस्य नहीं था, प्रवेश न दिए जाने के कार्य के बारे में यह नहीं माना जा सकता था कि केवल उसकी जाति के आधार पर ही उसे प्रवेश से वंचित किया गया था (एस०सी०आर० का पृष्ठ 532: ए०आई०आर० का पृष्ठ 228)।

137. अतः आक्षेपित उपबंधों की विधिमान्यता पर उक्त उपबंधों के प्रवर्तन के प्रभाव की पूर्वोक्त कसौटी को लागू करके विचार किया जाना है।

138. इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि संघ (बौद्ध संघ या भिक्षुओं का संगठन) का बौद्ध धर्म में महत्वपूर्ण स्थान है। बुद्ध और धर्म (पवित्र विधि) के साथ-साथ, संघ उन तीन रत्नों को गठित करता है, जो बौद्धों में पूजा-उपासना की उच्चतम वस्तुएं हैं और अपनी दीक्षा के समय भिक्षु को निष्ठापूर्वक यह घोषित करना पड़ता है कि उसने बुद्ध धर्म और संघ की शरण ली है [बी०के० मुखर्जी: "हिन्दू ला आफ रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट", टैगोर ला व्याख्यान माला, पंचम संस्करण (1983), पृष्ठ 18] सिक्किम में लामाई बौद्ध धर्म शासकीय धर्म था और बौद्ध संघों (मठों में रहने वाले बौद्ध लामाओं) ने प्रशासन में

---

[1] [1946] एफ० सी० आर० 1=ए० आई० आर० 1946 पी० सी० 66.

[1] [1955] 1 एस० सी० आर० 568=ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 561.
[2] [1946] एफ० सी० आर० 1=ए० आई० आर० 1946 पी० सी० 66.
[3] [1951] एस० सी० आर० 525=ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 226.

महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। चूंकि केवल बौद्ध व्यक्ति ही संघ का सदस्य हो सकता है, अतः संघों के लिए स्थान के आरक्षण का और संघ निर्वाचन-क्षेत्र के लिए विशेष निर्वाचक नामावली का उपबंध का जिसमें केवल संघ ही निर्वाचकों के रूप में रजिस्ट्रीकृत किए जाने के लिए हकदार हैं, यह प्रभाव है कि ऐसा व्यक्ति, जो बौद्ध नहीं है, उक्त आरक्षित स्थान के लिए निर्वाचन नहीं लड़ सकता है और उसके विरुद्ध केवल धर्म के आधार पर ही भेद-भाव बरता जा रहा है। इसी प्रकार ऐसा व्यति, जो बौद्ध नहीं है, केवल धर्म के आधार पर संघ निर्वाचन-क्षेत्र के लिए निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र हो जाता है।

139. मेरे मतानुसार, वे ऐतिहासिक विचारणाएं, जिनके प्रति श्री पाराशरन ने यह निर्देश किया है, बौद्धेतर (गैर-बौद्ध) व्यक्तियों के प्रति इस विभेद (भेदभाव) को न्यायोचित नहीं ठहराती हैं, क्योंकि उक्त विचारणाओं का, जिनका उस समय तो काफी महत्व था, जब सिक्किम का शासन चोग्याल द्वारा किया जाता था, जो लामाई बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और सिक्किम का प्रशासन अपने धर्म के सिद्धांतों के आधार पर चलाते थे, अब सिक्किम के भारत संघ में विलय के पश्चात् उक्त राज्य के कृत्यकरण (प्रशासन) तंत्र पर कोई प्रभाव या संबंध नहीं हो सकता है। इस संबंध में यह उपदर्शित करना उचित होगा कि टिप्पण (नोट) के खण्ड (क) में, जो तारीख 16 मार्च, 1958 की उद्घोषणा से उपाबद्ध था, यथा-उपवर्णित संघों के लिए एक स्थान के आरक्षण का कारण यह था:—

> "(क) लम्बे समय से यह महसूस किया गया है कि (चूंकि) सिक्किम के पूर्वतम ज्ञात इतिहास के समय से मठ और संघ समाज के जीवन में इतनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते चले आ रहे हैं, और उन्होंने विगतकाल में परिषदों में विनिश्चय किए जाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, (अतः) सिक्किम परिषद में संघ के लिए एक विनिर्दिष्ट रूप से आरक्षित स्थान होना चाहिए। इसी कारण उनके प्रतिनिधित्व के लिए एक स्थान का विनिर्दिष्ट रूप से उपबंध किया गया है।"

140. इससे यह उपदर्शित होता है कि सिक्किम परिषद् में और बाद में सिक्किम विधानसभा में संघों के लिए एक स्थान का आरक्षण सिक्किम में उस समय मौजूद प्रशासनिक तंत्र के संदर्भ में था, जिसमें संघ परिषद् के विनिश्चयों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। सिक्किम के भारत संघ में नए राज्य के रूप में प्रवेश के पश्चात् उक्त कारण प्रभावी नहीं रह जाता है। अतः संघों के लिए एक स्थान के लिए आरक्षण और केवल संघों के लिए बनाए गए विशेष निर्वाचक मण्डल के आधार पर उक्त स्थान के लिए निर्वाचन के संबंध में 1958 से 1976 तक सिक्किम में प्रवृत्त पद्धति के चालू रखे जाने को ऐतिहासिक विचारणाओं के आधार पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता है और आक्षेपित उपबंधों से संविधान के अनुच्छेद 15(1) और 325 में अंतर्विष्ट सांविधानिक आदेश का उल्लंघन होता है।

141. अब विचारार्थ अगला प्रश्न यह उद्भूत होता है कि क्या आक्षेपित उपबंधों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 15(1) और 325 के उपबंधों से किया गया विचलन संविधान के अनुच्छेद 371-च द्वारा अनुज्ञात किया गया है। यह पहले ही उपदर्शित किया जा चुका है कि अनुच्छेद 371-च, चाहे उसे अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन के रूप में संविधान में अंतः स्थापित माना जाता है या उन निबंधनों और शर्तों के रूप में माना जाता है, जिन पर सिक्किम अनुच्छेद 2 के अधीन भारत संघ में सम्मिलित किया गया था, संविधान के आधारभूत तत्वों में से किसी भी तत्व के परिवर्तन को अनुज्ञात नहीं करता है। यद्यपि "पंथ-निरपेक्ष" पद, संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा उद्देशिका में उसके अंतःस्थापन से पूर्व, संविधान में नहीं था, किंतु स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान हमारे स्वतंत्रता संघर्ष के नेताओं की प्रतिबद्धता से इस बात के लिए संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहती है कि पंथ-निरपेक्षता (धर्म-निरपेक्षता) संविधान के आधारभूत तत्वों में से एक है। **केशवानन्द भारती वाले मामले**[1] में यही अभिनिर्धारित किया गया था। (मु० न्या० सीकरी) एस० सी० आर० के पृष्ठ 165-66 पर (ए० आई० आर० के पृष्ठ 1535 पर); न्या० शैलट और ग्रोवर, पृ० 280 (एस० सी० आर०): पृ० 1603 (ए० आई० आर०); न्या० हेगड़े और मुखर्जी, पृ० 314 (एस० सी० आर०): पृ० 1623-24 (ए० आई० आर०) और न्या० खन्ना, पृ० 685 (एस० सी० आर०): पृ० 1859-60 (ए० आई० आर०) और **श्रीमती इंदिरा गांधी** बनाम **राज नारायण**[2]—वाले मामले में भी ऐसा ही अभिनिर्धारित किया गया था—[न्या० मैथ्यू पृ० 503 (एस० सी० आर०), : पृ०2372 (ए० आई० आर०) और न्या० चंद्रचूड़, पृ० 659 (एस० सी० आर०): पृ० 2466 (ए० आई० आर०)। संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा उद्देशिका में "पंथ-निरपेक्ष" पद को सम्मिलित किए जाने से अब इस मामले के विषय में कोई विवाद नहीं रह गया है।

142. जहां तक अनुच्छेद 15 के खण्ड (1) का संबंध है, खण्ड (3) और (4) में अभिव्यक्त उपबंध किया गया है, जिसके द्वारा राज्य को व्यक्तियों के कतिपय वर्गों के लिए विशेष उपबंध करने के लिए सशक्त किया गया है। स्वयं संघ अनुच्छेद 15 के खण्ड (3) और (4) की परिधि के अंतर्गत नहीं आते हैं और इसलिए अनुच्छेद 15 के खण्ड (1) के अल्पीकरण में, उनके पक्ष में कोई विशेष उपबंध अनुज्ञेय नहीं है। अनुच्छेद 325 में भी, उसमें अंतर्विष्ट विशेष निर्वाचक-नामावली के संबंध में प्रतिषेध से कोई विचलन अनुध्यात नहीं किया गया है। यह बात उस पृष्ठभूमि से सही सिद्ध हो जाती है, जिसमें अनुच्छेद 325 संविधान में अंगीकृत किया गया।

143. ब्रिटिश शासन के अधीन, मुसलमानों के लिए इण्डियन काउंसेल्स ऐक्ट, 1909 द्वारा पृथक् निर्वाचक मण्डल का उपबंध किया गया। 1932 में घोषित साम्प्रदायिक अधिनिर्णय (कम्युनल एवार्ड) में मुसलमानों, यूरोपियनों, सिखों, भारतीय ईसाइयों और आंग्ल-भारतीयों के लिए पृथक, निर्वाचक-मण्डलों का उपबंध किया गया था। उसके द्वारा

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्ली०, एस० सी० आर० 1=ए० आई० आर० [1973] एस० सी० 1461.

[2] [1976] 1 उम० नि० प० 1=[1976] 2 एस० सी० आर० 347=ए० आई० आर० [1975] एस० सी० 2299.

1993(2) eILR(PAT) SC 143

दलित वर्गों के लिए भी पृथक्, निर्वाचक मण्डल विस्तारित किए जाने की ईप्सा की गई। महात्मा गांधी ने उसका विरोध किया और उन्होंने आमरण अनशन आरंभ कर दिया और तदुपरि उक्त प्रस्ताव को छोड़ दिया गया। कांग्रेस कार्य समिति ने अक्तूबर, 1937 में कलकत्ता में अंगीकृत अपने संकल्प में 'साम्प्रदायिक अधिनिर्णय' को अ-राष्ट्रीय, अ-जनतांत्रिक और भारतीय स्वतंत्रता तथा भारतीय एकता के विकास में बाधक घोषित किया। कांग्रेस ने यह महसूस किया कि पृथक्, निर्वाचक मण्डल एक ऐसा कारक (तत्व) था, जिसके कारण देश का विभाजन हुआ। जब संविधान विरचित किया जा रहा था, तब इस प्रश्न पर कि संयुक्त निर्वाचक मण्डल होने चाहिए या पृथक् निर्वाचक मण्डल, सर्वप्रथम नागरिकों, अल्पसंख्यकों आदि के मूल अधिकारों को अवधारित करने के लिए संविधान सभा द्वारा गठित सलाहकार समिति द्वारा विचार किया गया। सलाहकार समिति ने तारीख 8 अगस्त, 1947 की रिपोर्ट में यह कहा है:—

> "वह प्रथम प्रश्न, जिसका हमें सामना करना पड़ा, पृथक्, निर्वाचक मण्डल का प्रश्न था; हमने इस प्रश्न को स्वयं अल्पसंख्यकों और संपूर्ण देश के राजनीतिक जीवन के लिए निर्णायक महत्व का प्रश्न मानकर विचार किया। प्रबल बहुमत द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पृथक्, निर्वाचक-मण्डल की पद्धति को नए संविधान में समाप्त कर दिया जाना चाहिए। हमारे निर्णयानुसार, इस पद्धति ने एक खतरनाक सीमा तक भूतकाल में साम्प्रदायिक मतभेदों को बढ़ाया है और वह स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के विकास के मार्ग में मुख्य बाधा साबित हुई है। नई राजनीतिक परिस्थितियों में, जो इस देश में विकसित हुई हैं, इन खतरों से बचने के लिए यह विशेष रूप से आवश्यक प्रतीत होता है और इस दृष्टिकोण से, पृथक् निर्वाचक-मण्डल के विरुद्ध तर्क हमारे लिए अत्यंत विनिश्चायक प्रतीत होते हैं।
>
> तदनुसार हम यह सिफारिश करते हैं कि केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के लिए सभी निर्वाचन संयुक्त निर्वाचक-मण्डल के आधार पर कराए जाने चाहिए।" (देखें शिवराव कृत "फ्रेमिंग आफ इण्डियाज़ कान्स्टीट्यूशन", सिलेक्ट डाक्यूमेंट्स, खण्ड 2, पृष्ठ 412)

144. जब सलाहकार समिति की रिपोर्ट विचारार्थ संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत की गई, तब श्री मुनिस्वामी पिल्लै ने रिपोर्ट की बाबत अपना संतोष व्यक्त करते हुए, यह कहा—

> "महोदय, एक बड़ी बात, जो मैं इस सदन के समक्ष रखना चाहूंगा, यह है कि हमने पृथक्, निर्वाचक मण्डल द्वारा निर्वाचन की हानिकर पद्धति से छुटकारा पा लिया है। अब इस पद्धति को इतना गहरा गाड़ दिया गया है कि अब वह हमारे देश में कभी भी नहीं उठ पाएगी।
>
> (संविधान-सभा वाद-विवाद, खण्ड 5, पृष्ठ 202)

145. मुस्लिम लीग के श्री बी० पोकर साहिब बहादुर द्वारा इस आशय का संशोधन प्रस्तुत किया गया कि केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के लिए सभी निर्वाचन, जहां तक मुसलमानों का संबंध है, पृथक्, निर्वाचक मण्डल के आधार पर कराए जाने चाहिए। अधिकांश सदस्यों ने उक्त संशोधन का विरोध किया। पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त ने उक्त अवसर पर बोलते हुए, यह कहा:—

> ".....अतः पृथक् निर्वाचक मण्डल न केवल राज्य और संपूर्ण समाज के लिए खतरनाक हैं बल्कि वे अल्पसंख्यकों के लिए विशेष रूप से हानिकर हैं। हम सबको इसका कटु अनुभव रहा है, और यह जानकर बड़ा दुःख होता है कि इस सम्पूर्ण अनुभव की अनदेखी की जा रही है और अब भी लोग इन दकियानूसी ख्यालों और नारों से, जिनकी कलई खुल चुकी है, चिपटे हुए हैं।"
>
> (संविधान-सभा वाद-विवाद, खण्ड 5, पृष्ठ 224)

146. सरदार पटेल वाद-विवाद के अपने उत्तर में अधिक स्पष्ट थे। इस विषय में उन्होंने यह कहा:—

> "मुझे उन भाषणों को सुनने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था, जो प्रारम्भिक प्रक्रमों पर किए गए थे, जब साम्प्रदायिक निर्वाचक-मण्डल का यह प्रश्न कांग्रेस में उठाया गया था, किंतु ऐसे अनेक प्रबुद्ध और प्रख्यात मुसलमान हैं, जिन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि इस देश में वह सबसे बड़ी बुराई, जो यहां लाई गई है, साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डल की पद्धति है; साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डल की पद्धति का आरम्भ किया जाना ऐसा विष है, जो हमारे देश के सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र में घर कर गया है। अनेक अंग्रेजों ने भी, जो इसके लिए उत्तरदायी थे, यह स्वीकार किया। किंतु आज, इस साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डल की पद्धति के परिणामस्वरूप देश के विभाजन पर सहमति के पश्चात्, मैंने कभी भी यह नहीं समझा कि उक्त प्रतिपादना को गंभीर रूप से प्रस्तुत किया जा रहा था और यदि उसे गम्भीर रूप से प्रस्तुत किया भी गया, तो उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार भी किया जाएगा।"
>
> (संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड 5, पृष्ठ 225)

147. संविधान सभा ने उक्त प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया और सलाहकार समिति की सिफारिश का अनुमोदन किया। किंतु संविधान के मूल प्रारूप में इस आशय का कोई अभिव्यक्त उपबंध नहीं था कि संसद् और राज्य विधानमण्डलों के लिए निर्वाचन संयुक्त निर्वाचक मण्डल के आधार पर होंगे और उसका कारण यह था कि निर्वाचन संबंधी विवरण संविधान के प्रारूप के अनुच्छेद 290 और 291 के अधीन सहायक (अधीनस्थ) विधान के लिए छोड़ दिए गये थे। बाद में यह महसूस किया गया कि संयुक्त निर्वाचक मण्डल से संबंधित उपबंध का इतना आधारभूत महत्व है कि उसे स्वयं संविधान में अभिव्यक्त रूप से वर्णित किया जाना चाहिए। अतः यह उपबंध करने के लिए अनुच्छेद 289-क अंतःस्थापित किया गया कि संसद् के किसी सदन या किसी राज्य के विधानमण्डल के लिए सभी निर्वाचन संयुक्त निर्वाचक मण्डल के आधार पर होंगे। [देखें शिवराव कृत "फ्रेमिंग आफ इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन", (सिलेक्ट डाक्यूमेंट्स, खण्ड 4, पृष्ठ 1411)]। प्रारूपण समिति द्वारा यथा-प्रस्थापित, अनुच्छेद 289-क संविधान सभा के वाद-विवाद के अनुक्रम में प्रतिस्थापित किया गया और संविधान-सभा द्वारा अंतिम रूप में यथा-अंगीकृत उक्त उपबंधों को अनुच्छेद 325 के रूप में संख्यांकित किया गया।

148. इससे यह दर्शित होता है कि अनुच्छेद 325 संविधान के पंथ-निरपेक्ष (धर्म-निरपेक्ष) स्वरूप को बनाए रखने के लिए अत्यधिक महत्व का अनुच्छेद है। उक्त उपबंध के उल्लंघन से गणराज्य के पंथ-निरपेक्ष स्वरूप पर प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ेगा, जो संविधान के आधारभूत तत्वों में से एक है। अनुच्छेद 15 के खण्ड(1) के उपबंधों के संबंध में भी यही स्थिति है, जिसके द्वारा केवल धर्म के आधार पर विधानमण्डलों में स्थानों का आरक्षण प्रतिषिद्ध किया गया है।

149. निस्संदेह, यह सच है कि आक्षेपित उपबंध सिक्किम की विधानसभा में 32 स्थानों में से केवल एक स्थान के ही संबंध में है किंतु ऐसे उपबंधों के परिणामस्वरूप होने वाली रिष्टि की संभावनाओं को कम नहीं माना जा सकता। ऐसे उपबंधों के होने से अन्य धर्मों के अनुयायियों द्वारा ऐसी ही मांगों के लिए अवसर उत्पन्न हो सकता है और धार्मिक आधारों पर स्थानों के आरक्षण तथा पृथक्, निर्वाचक मण्डल की मांग को भी उठाया जा सकता है, जिसे संविधान सभा ने स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया था। यह ऐसा विष है, जो, जिसे यदि उसे पूर्वतम प्रक्रम पर ही पद्धति से समाप्त नहीं किया जाता है, राष्ट्र के जीवन को ही नष्ट कर देगा। अतः यह अनिवार्य है कि ऐसा उपबंध विधि-संहिता (संविधान) में नहीं होना चाहिए, जिससे कि और आगे रिष्टि को निवारित किया जा सके और गणराज्य के पंथ-निरपेक्ष स्वरूप को संरक्षित और परिरक्षित रखा जा सके। **केदार नाथ बाजोरी** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[1] वाले मामले में, न्या० बोस ने मूल स्वतंत्रताओं पर विचार करते समय, यह चेतावनी दी है—

> "यदि हम मूल स्वतंत्रताओं को बनाए रखना चाहते हैं, जिन्हें हमने अपने संविधान में भावपूर्ण रूप से उद्घोषित किया है, और जनतांत्रिक जीवन पद्धति में विश्वास करते हुए, स्वतंत्रता और मुक्त समाज के रूप में रहना चाहते हैं, तो हमें आरम्भ में ही ऐसी प्रवृतियों को दमित करना होगा, जो नजीर दर नजीर सहज ही व्यापक रूप धारण कर सकती हैं और जो अंत में स्वतंत्रता और समता की संकल्पना को ही अस्वीकृत कर देगी।" (एस० सी० आर० का पृष्ठ 52: ए० आई० आर० का पृष्ठ 410)

150. यह निष्कर्ष निकालने के पश्चात् कि संघ निर्वाचन क्षेत्र के लिए पृथक् निर्वाचक नामावली का उपबंध करने वाले आक्षेपित उपबंध से अनुच्छेद 325 का उल्लंघन होता है और संघों के लिए एक स्थान के आरक्षण से अनुच्छेद 15(1) का उल्लंघन होता है तथा अनुच्छेद 325 और 15(1) संविधान में परिकल्पित धर्म-निरपेक्षता की संकल्पना के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं, इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि क्या अनुच्छेद 371-च द्वारा, सिक्किम के नव-प्रविष्ट (सम्मिलित) राज्य को संविधान लागू करते समय, अनुच्छेद 325 और 15(1) में अंतर्विष्ट सिद्धांत से विचलन अनुज्ञात किया गया है। मैं अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के उपबंधों का इस प्रकार अर्थान्वयन करने में असमर्थ हूं कि उसके द्वारा ऐसी शक्ति प्रदत्त की गई है। अनुच्छेद 371-च का खण्ड (च) पर, जिसके द्वारा संसद् को सिक्किम की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करने के लिए सिक्किम की विधान सभा में स्थानों के आरक्षण का उपबंध करने के लिए सशक्त किया गया है, तारीख 8 मई, 1973 के त्रिपक्षीय करार के खण्ड (5) के संदर्भ में विचार किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) में अनुध्यात विभिन्न वर्ग (विभाग) एक ओर भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोग और दूसरी ओर नेपाली मूल के सिक्किमी लोग हैं; तथा उक्त उपबंध इन वर्गों के अधिकारों और हितों को संरक्षण और रक्षोपाय प्रदान करने के लिए आशयित है। मेरे मतानुसार, अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) का, केवल संघों से संरचित (मिल कर बनने वाली) पृथक् निर्वाचक नामावली के आधार पर संघों के लिए स्थान के आरक्षण और उस स्थान के लिए निर्वाचन को अनुज्ञात करने के अर्थ में, अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता है।

151. अतः यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि धारा 7 की उपधारा (1-क) के खण्ड (ग) और 1950 वाले अधिनियम की धारा 25-क तथा 1951 वाले अधिनियम की धारा 5-क की उपधारा (2) के खण्ड (क) में और धारा 5-क की उपधारा (2) के खण्ड (ग) में प्रयुक्त "संघों के लिए आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों से भिन्न" शब्दों से संविधान के अनुच्छेद 15(1) और 325 के उपबंधों का उल्लंघन होता है और उन्हें संविधान के अनुच्छेद 371-च द्वारा व्यावृति (संरक्षण) प्रदान नहीं की गई है। तथापि, मेरे मतानुसार, उक्त उपबंध अन्य उपबंधों से वियोज्य (पृथक्करणीय) हैं, जो 1976 वाले अधिनियम और 1980 वाले अधिनियम द्वारा 1950 वाले अधिनियम और 1951 वाले अधिनियम में अंतःस्थापित किए गए हैं और आक्षेपित उपबंधों का विखण्डन अन्य उपबंधों को प्रभावी बनाने के मार्ग में बाधक नहीं होता है।

152. अतः मैं 1976 के अधिनियम सं० 10 द्वारा 1950 वाले अधिनियम में अंतःस्थापित धारा 25-क को और उपधारा (1-क) के खण्ड (ग) के उपबन्धों को एतद्द्वारा विखण्डित करता हूं, जो 1980 के अधिनियम सं० 8 द्वारा 1950 वाले अधिनियम की धारा 7 में अंतःस्थापित की गई है, और उपधारा (2) के खण्ड (क) में "संघों के लिए आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र से भिन्न" शब्दों 1980 के अधिनियम सं० 8 द्वारा 1951 वाले अधिनियम की धारा 5-क में अंतःस्थापित उपधारा (2) के खण्ड (ग) को, असंवैधानिक होने के कारण, विखण्डित करता हूं।

153. 1991 के अंतरित मामला संख्या 93 और 94 में, याचियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री के० एन० भट्ट और श्री के० एम० के० नायर ने भूटिया और लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए स्थानों के आरक्षण से संबंधित उपबंधों की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी है। तथापि, उन्होंने यह तर्क दिया है कि अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) द्वारा संसद् पर नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करने के लिए उपबंध करने की बाध्यता अधिरोपित की गई है तथा भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के अधिकारों और हितों के संरक्षण के लिए आरक्षण करते समय, संसद् से नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करने के लिए नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए स्थानों के वैसे ही आरक्षण का उपबंध करने की भी अपेक्षा की गई है। इस संबंध में यह निवेदन किया गया है कि सिक्किम परिषद् में और बाद में सिक्किम विधान सभा में नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए स्थानों का आरक्षण पहले

[1] [1954] 5 एस० सी० आर० 30=ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 404.

से ही मौजूद था, जब वर्ष 1952 में निर्वाचन प्रक्रिया आरम्भ की गई थी। यह तर्क भी दिया गया कि सिक्किम के भारतीय संघ में सम्मिलित किए जाने के पश्चात् सिक्किम में बाह्य व्यक्तियों का बड़ी संख्या में प्रवेश हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों सहित, सिक्किमी मूल निवासियों की संख्या देश के अन्य भागों से सिक्किम में आने वाले व्यक्तियों की तुलना में बहुत कम हो गई है। मेरे मतानुसार, इन दलीलों में कोई तत्व नहीं है। 1971 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार, नेपाली मूल के सिक्किमी लोग 140,000 थे, जब कि भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों की जनसंख्या 51,600 थी और 1981 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार, समरूपी आंकड़े क्रमशः 224,481 और 73,623 थे। इससे यह दर्शित होता है कि नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों और भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों का अनुपात लगभग 3:1 है। उनकी संख्या में बड़े अंतर को देखते हुए, नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों को यह आशंका नहीं हो सकती है कि 32 स्थानों वाली विधानसभा में भूटिया-लेप्चा मूल के सिक्किमी लोगों के लिए आरक्षित 12 स्थानों के कारण उनके अधिकार और हित खतरे में पड़ सकते हैं। जहां तक इस आशंका का संबंध है कि नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों की जनसंख्या देश के अन्य भागों से आने वाले व्यक्तियों की संख्या की तुलना में कम हो जाएगी, मैं यह पाता हूं कि यह दर्शित करने के लिए याचियों द्वारा कोई सामग्री प्रस्तुत नहीं की गई है कि देश के अन्य भागों से सिक्किम में आने वाले व्यक्तियों की संख्या इतनी अधिक है कि नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों की संख्या कम हो रही है। दूसरी ओर, 1971 और 1981 की जनगणना के आंकड़े इसके विपरीत तथ्य सिद्ध करते हैं। 1971 की जनगणना के अनुसार, 209,843 की कुल जनसंख्या में नेपाली मूल के सिक्किमी लोग लगभग 140,000 थे, अर्थात् 67 प्रतिशत, और 1981 जनगणना के अनुसार, 3,16,385 की कुल जनसंख्या में नेपाली मूल के सिक्किमी लोग लगभग 2,24,481 थे, अर्थात् लगभग 70 रतिशत। इन परिस्थितियों में, यह नहीं कहा जा सकता है कि नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए, उनके अधिकारों और हितों को संरक्षण प्रदान करने के लिए, स्थानों का आरक्षण आवश्यक था और नेपाली मूल के सिक्किमी लोगों के लिए स्थानों के आरक्षण का कोई उपबंध न कर के संसद् संविधान के अनुच्छेद 371-च के खण्ड (च) के उपबंधों को प्रभावी बनाने में असफल रही है।

154. उपर्युक्त कारणों से, इन मामलों को भागतः मंजूर किया जाता है और यह घोषित किया जाता है कि 1976 के अधिनियम सं० 10 द्वारा 1950 वाले अधिनियम में जोड़ी गई धारा 25-क, 1980 के अधिनियम सं० 8 द्वारा 1950 वाले अधिनियम की धारा 7 में अंतः-स्थापित उपधारा (1-क) का खण्ड (ग), 1980 के अधिनियम सं० 8 द्वारा 1951 वाले अधिनियम की धारा 5-क में अंतःस्थापित उपधारा (2) के खण्ड (क) में "संघों के लिए आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र से भिन्न" शब्द और 1980 के अधिनियम सं० 8 द्वारा 1951 वाले अधिनियम की धारा 5-क में अंतःस्थापित उपधारा (2) का खण्ड (ग) असंवैधानिक है और शून्य है। तदनुसार आदेश किया जाता है।

न० याचिकाओं का निपटारा किया गया।

[1995] 1 उम० नि० प० 337

ओम नारायण अग्रवाल और अन्य

बनाम

नगरपालिका शाहजहांपुर और अन्य

तथा

बशीरन

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य

19 फरवरी, 1993

न्यायमूर्ति एन० एम० कासलीवाल और न्यायमूर्ति योगेश्वर दयाल

निर्वाचन विधि—उत्तर प्रदेश नगरपालिका अधिनियम, 1916 — धारा 9 का चौथा परंतुक [1990 के उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 19 द्वारा यथा संशोधित] — धारा 47-क और 87-क — धारा 9 के चौथे परंतुक के अधीन नामनिर्देशन पर "राज्य सरकार के प्रसादपर्यन्त पद धारित करेंगे किंतु बोर्ड निबंधनों के परे नहीं"—चौथे परंतुक की संवैधानिकता — चौथे परंतुक के अधीन दो महिला सदस्यों का नामनिर्देशन रद्द किया जाना और उनके स्थान पर राज्य सरकार द्वारा दो अन्य महिला सदस्यों को नामनिर्दिष्ट किया जाना — बोर्ड के अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव में नए नामनिर्दिष्ट सदस्यों द्वारा पक्षाघात के पक्ष में मतदान करना — प्रस्ताव बहुमत से पारित होना — नामनिर्दिष्ट सदस्यों के मतों की विधिमान्यता को इस आधार पर आक्षेपित किया जाना कि पूर्व सदस्यों के नामनिर्देशन का रद्दकरण और उनके स्थान पर नए सदस्यों का नामनिर्देशन अविधिमान्य क्योंकि चौथा परंतुक असंवैधानिक होने के कारण अनुच्छेद 14 और 15 (3) के अतिक्रमण में था — चौथा परंतुक विधिमान्य है और यह अनुच्छेद 14 और 15 का अतिक्रमण नहीं करता और इसके परिणामस्वरूप नए नामनिर्दिष्ट सदस्यों के मत भी विधिमान्य थे — चौथा परंतुक महिला सदस्यों को अभ्यावेदन के किसी अधिकार से वंचित नहीं करता — नामनिर्दिट सदस्य एक ऐसा पृथक् वर्ग गठित करते हैं जिनका नामनिर्दिष्ट किया जाना और हटाया जाना राज्य सरकार के प्रसाद (इच्छा) पर निर्भर है और जो राजनीतिक बातों पर आधारित है — नामनिर्दिष्ट सदस्य नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के अनुसरण में पूर्व; अनुमत अवसर पाने के भी हकदार नहीं हैं उनको हटाए जाने से उनके कार्यों और चरित्र पर कोई धब्बा नहीं लगता।

भारत का संविधान, 1950—अनुच्छेद 14 और 15 (3) — निर्वाचन प्रसादानुसार का सिद्धांत — नामनिर्दिष्ट सदस्य — नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत का लागू न होना।

भारत का संविधान, 1950 अनुच्छेद 15(3) — व्याप्ति —